सूत्र संवेदना-३

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित
प्रतिक्रमण के सूत्रो

सूत्र संवेदना-३

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित

आवश्यक क्रिया के सूत्र

भाग-३ प्रतिक्रमण के सूत्र

(सूत्र संवेदना-३ की संस्कारित हिन्दी आवृत्ति)

: संशोधन-संकलन एवं सविस्तार संपादन :

प्रशांतमूर्ती परम पूज्य साध्वीजी श्री **चरणश्रीजी** महाराज की सुशिष्या

परम पूज्य विदुषी साध्वीजी श्री **चन्द्राननाश्रीजी** महाराज की सुशिष्या

साध्वीजी श्री **प्रशमिताश्रीजी**

- प्रकाशक -

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,

अहमदावाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९

सूत्र संवेदना-३

: प्रकाशक :

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,

अहमदाबाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९

साहित्य सेवा : रु. ६०

प्रथम आवृत्ति : वि.सं. २०६८, ई. सन-२०१२ अहमदाबाद

○ संपर्क स्थान - प्राप्ति स्थान ○

❖ **श्री अशोक अरविंद विक्रम मेहता**
पूनम फाइनेन्स
१६४, 'बी' स्ट्रीट, ६ क्रॉस,
गांधीनगर, बेंगलोर-५६०००९
(M) 9845452000/9845065000

❖ **श्री शांतिलालजी गोलच्छा**
श्री विचक्षण जैन तत्वज्ञान केन्द्र
श्री धर्मनाथ जैन मंदिर
नं. ८५, अम्मन कोइल स्ट्रीट
चैन्नई-६०००७९
फोन : (R) 044/25207875
(M) 9444025233

❖ **श्रीमती आरतीबेन हेमन्तभाई जैन**
३, जानकीनगर एवसटेन्शन
राम मंदिर के पास, इन्दौर
फोन : (R) 0731/2401779
(M) 9301337025

❖ **अहमदावाद :**
- सन्मार्ग प्रकाशन कार्यालय

❖ **सरलाबेन किरणभाई**
"ऋषिकिरण"
१२, प्रकृतिकुंज सोसायटी,
आंबावाडी, अहमदावाद-१५.
फोन : (R) 079-26620920
(M) 9825007226

❖ **साकेरचंदभाई मोतीचंदभाई झवेरी**
सी.व्यू एपार्टमेन्ट, ७मे मा,
डुंगरसी रोड, वाल्केश्वर, मुंबई-६.
फोन : (R) 23676379
(M) 98200811124

❖ **श्री खेमचन्द दयालजी**
रथाकार मंदीर, मणीलाल,
२, केस्टेलीनो रोड, पूणे.

❖ **श्री शैलैन्द्र सकलेचा**
वर्धमान ट्रेडर्स, जैन मंदिर के पीछे, सदर बजार,
रायपुर-४०२००१ (R) 077-4280223

जिनसे पाया उन्हीं के करकमलों में....

सूत्र संवेदना संबंधी

स्वर्गस्थ गच्छाधिपति पूज्यपाद

आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म.सा. का अभिप्राय

नारायणधाम, वि.सं. २०५६, पो.व. ४

विनयादिगुणयुक्त सा. श्री प्रशमिताश्रीजी योग,

***जिज्ञा** से प्रत्यक्ष में पहले बात हुई, उसके बाद उसने 'सूत्र संवेदना' का प्रुफ पढ़ने के लिए भेजा। उसे विहार में पूरा पढ़ लिया। सच कहता हूँ - पढ़ने से मेरी आत्मा को तो अवश्य खूब आनंद हुआ। ऐसा आनंद एवं उस वक्त हुई संवेदनाएँ अगर स्थिर बनें, क्रिया के समय सतत उपस्थित रहें तो क्रिया-अनुष्ठान भावानुष्ठान बने बिना न रहे। निश्चित रूप से बहुत सुंदर पुरुषार्थ किया है। ऐसी संवेदना पाँचों प्रतिक्रमणों में उपयोगी सभी ही सूत्रों की तैयार हो तो योग्य जीवों के लिए जरूर खूब लाभदायक बनेगी। मैंने **जिज्ञा** को प्रेरणा दी है, लेकिन इसके मूल में आप हो इसलिए आपको भी बताता हूँ। मेरी दृष्टि में यह सूत्र-संवेदना प्रत्येक साधु, साध्विओं - खास करके नए साधु-साध्विओं को विशेष पढ़नी चाहिए।*

रत्नत्रयी की आराधना में अविरत लगे रहो, यही शुभाभिलाषा।

लि.

हेमभूषण सू. की अनुवंदना

अनुवादक की अंतरेच्छा

ज्ञान सदृश कोई विशेषता नहीं होती और जब वह ज्ञान आत्मलक्षी होता है तो उससे बढ़कर कोई विशिष्टता नहीं होती ।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष गुरु भगवंतों की महती कृपा से सूत्र संवेदना भाग-४, भाग-१, भाग-२ के बाद भाग-३ के अनुवाद का आशीर्वाद श्रद्धेय साध्वी श्री प्रशमिताश्रीजी से मिला । पुस्तक आपके हाथों में है ।

अल्पश्रुत कितना भी पुरुषार्थ करें, परिणति में कमी रह ही जाती है। हर भाषा के अपने विशेष शब्द होते हैं जिनके तुलनात्मक शब्द कभी-कभी बड़ी मुश्किल से मिलते हैं। फिर भी, मर्म को समझकर, अनुवाद किया जाता है। प्रबुद्ध पाठक इस बाध्यता को समझेंगे, यह अनुरोध है। भावार्थ यथावत् बना रहे इसका हमने भरसक प्रयास किया है। इस प्रयास में श्लाधनीय सहयोग दिया है स्नेही श्री शैलेषजी मेहता ने ।

इस पुस्तक में सात सूत्रों की व्याख्या है - भगवान् हं, पडिक्कमण ठावणा सूत्र, इच्छामि ठामि, नाणंमि दंसणंमि... अट्ठारह पाप स्थानक आदि जो प्रतिक्रमण के मूलभूत हेतु हैं।

इस अनुवाद के संबंध में **प.पू.श्रद्धेय गुरुवर्या श्री प्रशमिताश्रीजी** ने जो वात्सल्य एवं विश्वास रखा उसके लिए उन्हें अंतर्मन से कोटि-कोटि वंदन। पू.साध्वी जिनप्रज्ञाश्रीजी प्रेरणा स्रोत रहीं, बडी धैर्यता से उन्होंने हमारी कमजोरियों को नजर अंदाज किया। उन्हें कोटि-वंदन ।

इस सुअवसर पर याद आती हैं प.पू.स्व.गुरुवर्या श्री हेमप्रभाश्रीजी एवं पू.सा.श्री विनीतप्रज्ञाश्रीजी जो इस पुण्य कार्य का प्रथम कारण बनीं। उन्हें कोटि-कोटि नमन ।

गुरु भगवंतों से प्रार्थना कि इतनी शक्ति बनी रहे कि, ज्ञान-धारा सतत सम्यक् चारित्र में परिणमित रहे ।

१०, मंडपम रोड, किलपॉक, चेन्नई - ६०००१०.
श्रावण सुद-१५ २०६८

- डॉ. ज्ञान जैन
B.Tech.,M.A.,Ph.D.

अवर अनादि नी चाल नित-नित त्यजीयेजी...

आत्मा अनंत ज्ञानमय है, अनंत आनंद का पिंड है, अनंत सुख इसका स्वभाव है, तो भी अनादि से उलटी चाल के कारण आत्मा का यह स्वरूप कर्म से आवृत हो गया है। आवृत इस स्वरूप को प्रकट करने के लिए ही प्रभु ने साधना मार्ग बताया है।

विविध प्रकार की इस साधना में सर्वश्रेष्ठ साधना सामायिक एवं प्रभु वंदना की है। उसे हम सूत्र संवेदना भा. १-२ में देख आए।

साधक सामायिक, चैत्यवंदन वगैरह अनुष्ठान द्वारा परमात्मा जैसे ही अपने शुद्ध स्वरुप को प्रकट करने का सतत यत्न करता है, परन्तु उसे क्वचित से ही सफलता मिलती है, क्योंकि अपनी क्या/कहाँ भूल होती है वह साधक जान नहीं सकता। मूल में उसके पास अपना निरीक्षण कर सके वैसी अंतर्दृष्टि नहीं होने के कारण वह स्वभाव की ओर तीव्रता से चल नहीं सकता। 'प्रतिक्रमण' की क्रिया साधक को यह दृष्टि देती है। जैन शासन की यह अनुपम क्रिया साधक को दोषों का दर्शन करवाकर शुद्धि का मार्ग बताती है। सूत्र संवेदना के आगे के तीन भागों में उस प्रतिक्रमण को ही समझने का प्रयत्न करना है।

प्रतिक्रमण की क्रिया के लिए ज्ञानी भगवंतों ने एक नहीं परन्तु छोटे बड़े अनेक सूत्रों की रचना की है। इन सब सूत्रों के लिए 'सूत्र संवेदना' को तीन भागों (३-४-५) में विभाजित किया है। उसमें भी 'वंदित्तु' सूत्र की वाचना चालु होने के कारण अनेक जिज्ञासु साधकों की माँग को लक्ष्य में रखकर, 'वंदित्तु' सूत्र का विस्तृत अर्थ समझानेवाला चौथा भाग पूर्व में ही प्रकाशित हो गया है।

प्रतिक्रमण क्या है ? उसका अधिकारी कौन है ? वगैरह प्रतिक्रमण संबंधी अनेक विषयों की भाग ४ में संकलना की है। इसलिए इस भाग में उसका पुनरावर्तन नहीं किया। इस तीसरे भाग में तो प्रतिक्रमण की क्रिया करने के लिए जरूरी ऐसे 'वंदित्तु' सूत्र के पूर्व के सात सूत्रों का ही वर्णन

है। ये सूत्र प्रमाण में छोटे हैं; परन्तु अर्थ से अत्यंत गंभीर हैं। परिणाम स्वरूप साधक उनके द्वारा गहराई से अपने छोटे से छोटे दोष की भी गवेषणा कर सकता है।

सद्गुरु के सान्निध्य में विनयपूर्वक इस सूत्र के हार्द तक पहुँचने का प्रयत्न करें तो अनादिकाल से उल्टी चाल चलती अपनी गाड़ी को 'यू टर्न' मारकर सीधे मार्ग पर स्वभाव की ओर चला सकते हैं। यद्यपि ये कार्य सरल नहीं है। जिस प्रकार सुई में धागा पिरोने की सामान्य क्रिया करने के लिए सुई, धागा एवं हाथ स्थिर करना पड़े एवं बाद में मन एवं चक्षु को एकाग्र करे तो धागा सुई में पिरोया जा सकता है, वैसे ही उत्कृष्ट प्रतिक्रमण का अनुभव करने के लिए पहले तो भटकते चित्त को सूत्र, उसका अर्थ, उसकी संवेदना वगैरह में स्थिर करना पडे, समझ एवं श्रद्धा को मजबूत करना पड़े, हृदय को संवेग के भावों से भावित करना पड़े और बाद में उपयोगपूर्वक एवं विधि अनुसार प्रतिक्रमण किया जाए तो आत्मा अपने आप बाह्यभावों से वापस लौटती है। आत्मभाव में स्थिर होती है एवं आत्मिक आनंद पा सकती है।

इस विषम काल में भी आत्मिक सुख को पाने के लिए ऐसे सुंदर साधन हमें प्राप्त हुए हैं, उनमें सब से बड़ा उपकार अरिहंत परमात्मा का है।

परम कृपालु परमात्मा की वाणी को गणधर भगवंतों ने सूत्रबद्ध किया। श्रुतधरों की उज्जवल परंपरा द्वारा ये सूत्र हमें प्राप्त हुए, परन्तु उनके एक-एक शब्द के पीछे छिपे हुए गहरे भावों तक पहुँचने का काम सरल नहीं था। इन सूत्रों के उपर संस्कृत भाषा में रचे गए अनेक टीका ग्रंथों के सहारे इन भावों को पाने एवं अनेक जिज्ञासुओं को उन भावों तक पहुँचाने के लिए इस पुस्तक के माध्यम से मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। वैसा करने में मुझे नामी-अनामी अनेक लोगों की सहायता मिली है। इस अवसर पर उन सब के उपकारों की स्मृति ताजी हुई है।

सर्वप्रथम उपकार तो गणधर भगवंतों का जिन्होंने हमारे जैसे अल्पमति जीवों के लिए गूढ रहस्यों से भरे सूत्र बनाये। उसके बाद उपकार है **पूर्वाचार्यों का** जिन्होंने इन सूत्रों के रहस्य तक पहुँचने के लिए उनके उपर **अनेक** टीका ग्रंथ बनाये। ये हुई परोक्ष उपकार की बात। प्रत्यक्ष उपकार में **सर्व प्रथम** उपकार है धर्मपिता तुल्य (संसारी पक्ष में मेरे मामा) वर्धमान तपोनिधि प.पू.**आचार्यदेव श्रीमद् विजय गुणयशसूरीश्वरजी महाराज** का जिन्होंने मुझे धर्ममार्ग पर आरूढ़ किया एवं व्याख्यान वाचस्पति **प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराज** से साक्षात्कार करवाया। उनका सुयोग मिलने पर मेरे जीवन में वैराग्य का अंकुर फूटा और संसार को त्याग कर मैं संयम के लिए दृढ़ बनी। यहाँ तक पहुँचाने के लिए उन महापुरुषों का उपकार तो मैं कभी भी नहीं भूल सकती।

पत्थर पर टांका मारकर शिल्पी जिस प्रकार अनेक स्थापत्य तैयार करता है, वैसे ही इशारे के औजार से मेरे जीवन को घड़ने का कार्य मेरे **परमोपकारी गुरुदेव प.पू.चंद्राननाश्रीजी म.सा.**ने किया। उन्होंने संयम जीवन जीना तो सिखाया ही, परन्तु साथ में संयम को समुज्ज्वल बनाने के लिए सतत शास्त्राभ्यास करने की प्रेरणा एवं सुविधा भी दी। आज जीवन में यदि कुछ थोड़ा भी अच्छा देखने को मिलता है तो उनकी प्रेरणारूप सिंचन का फल है। उनके इस उपकार का बदला तो मैं कभी भी नहीं चुका पाऊँगी।

इस सूत्र की गहराई तक पहुँचने में एवं शंकाओं का समाधान करने में मुझे पंडितवर्य सु.श्रा.प्रवीणभाई मोता की खूब सहायता प्राप्त हुई है। हर अवसर पर श्रुत में सहायता करनेवाले उनके उपकार भी कभी नहीं बिसरा सकती।

इस भाग का लेखन करीब तीन साल से तैयार हो गया था, परन्तु उसमें चिंतन करते हुए उठे हुए अनेक प्रश्न अनुत्तर रहे। अनेक महात्माओं से प्राप्त समाधानों का मिलान करने में विलंब होता गया । बीच में 'वंदित्तु' सूत्र का विवरण सहित 'सूत्र संवेदना' श्रेणी का चौथा भाग भी प्रकाशित

हुआ। विविध समाधानों को मिलाकर लेखन पूर्ण किया। पुस्तक का साद्यंत लेखन होने के बाद उसमें आलेखित पदार्थों की शास्त्रानुसारीता शोध के लिए **सन्मार्ग दर्शक प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराज** को बिनति की। अनेकविध शासन रक्षा एवं प्रभावना के कार्य में व्यस्त होने के कारण वे यह कार्य शीघ्र हाथ में न ले सके, परन्तु आखिर में विहार के दौरान हुए गमगीन अकस्मात के बाद अत्यंत प्रतिकूल शारीरिक परिस्थिति के बीच भी उन्होंने शब्दशः लेखनी परख डाली एवं सुधार-वृद्धि के साथ बहुत सी जगह नई दिशा का दर्शन कराया।

परार्थ परायण पन्यासप्रवर **प.पू.भव्यदर्शनविजयजी म.सा.**ने इसके पहले सूत्र संवेदना भाग-२ देखकर दिया था, जिसके कारण बहुत सारी भाषाकीय भूलें सुधरीं एवं पदार्थ की सचोटता भी आ सकी । जिससे यह भाग भी वे देख लें ऐसी मेरी अंतर की भावना थी। आपश्रीने मेरी भावना सहर्ष स्वीकार कर पूरा लेखन सूक्ष्मता से जाँच दिया।

अस्वस्थ तबियत में भी प.पू.रोहिताश्रीजी म.सा. के समुदाय की पू.चंदनबालाजी म.सा. ने भी मुझे बहुत बार प्रेरणा एवं प्रूफ रीडिंग के कार्य में प्रशंसनीय सहायता की है।

विशिष्ट क्षयोपशम वाले व्यक्ति के लिए लिखने का कार्य बहुत सरल होता है। वे तो लिखने बैठते हैं और सुंदर लेख लिख सकते हैं, परन्तु क्षयोपशम के अभाव के कारण मेरे लिए यह कार्य आसान नहीं था। अंतर में भावों का झरना तो सतत फूटता रहता है। परन्तु मेरे भाषाकीय ज्ञान की मर्यादा के कारण इन भावों को शब्दों में ढालने का काम बहुत मुश्किल था, फिर भी जिज्ञासु साध्वीजी भगवंतों की सहायता से एवं भावुक बहनों की सतत मांग से यथाशक्ति लिखने का प्रयास किया है।

पूर्व में मैं बता चुकी हूँ कि, इस पुस्तक में बताए गये भाव पूर्ण नहीं है। गणधर रचित सूत्र के अनंत भावों को समझने की भी मेरी शक्ति नहीं, तो लिखने की तो क्या बात करूँ! तो भी शास्त्र के सहारे मैं जितने भावों को

जान सकी हूँ, उनमें से कुछ भावों को इस पुस्तक में सरल भाषा में सुबद्ध करने का प्रयत्न किया है। ज्ञान की अपूर्णता एवं अभिव्यक्ति की अनिपुणता के कारण मेरा यह लेखन बिल्कुल त्रुटि मुक्त और सर्व को स्पर्शे वैसा ही होगा, वैसा तो मैं दावा नहीं कर सकती फिर भी इतना जरूर कह सकती हूँ कि, इसमें लिखे हुए भावों को हृदयस्थ कर जो प्रतिक्रमण की क्रिया करेगा उसका प्रतिक्रमण पहले से जरूर अच्छा होगा।

भगवान की आज्ञा के विरुद्ध या सूत्रकार के आशय विरूद्ध जो कुछ लिखा गया हो तो उसके लिए मैं 'मिच्छामि दुक्कडं' मांगती हूँ। साथ ही बहुश्रुतों को प्रार्थना करती हूँ कि, उनकी दृष्टि में यदि कोई कमी दिखे तो बिना संकोच मुझे बतायें।

अंत में मेरी एक भावना व्यक्त करती हूँ कि, हम सब इस पुस्तक के माध्यम से मात्र प्रतिक्रमण के अर्थ की विचारना करने में ही पर्याप्ति का अनुभव न करें, परन्तु उसके द्वारा अनादिकाल से जमी हुई पाप वृत्ति के कुसंस्कारों का नाश कर शीघ्र आत्म कल्याण साध सकें।

वि.सं. २०६३, आ.सु. १०,
ता. २१-१०-२००७
'सुधा कलश',
अठवा लाइन्स सूरत

परम विदुषी शताधिक शिष्याओं की
योग क्षेमकारिका प.पू. चंद्राननाश्रीजी म.सा.
की शिष्या सा. प्रशमिताश्रीजी

वि.सं. २०५७ की साल में **सु. सरलाबहेन** के आग्रह से यह लेखन कार्य शुरु किया था। आज देव-गुरु की कृपा से सूत्र संवेदना का वाचक वर्ग काफी विस्तृत हुआ है। गुर्जर भाषा की छट्ठी आवृत्ति प्रकाशित हो रही है।

इस हिन्दी आवृत्ति की नींव है - सुविनित ज्ञानानंदी **सरलभाषी स्व.सा. श्री विनीतप्रज्ञाश्रीजी** जो खरतरगच्छीया विदुषी **सा. हेमप्रभाश्रीजी म.**की शिष्या हैं।

उन्होंने वि.सं. २०६३ की साल में मुझे आत्मीयता से निवेदन किया था कि, सूत्र संवेदना साधना का एक आवश्यक अंग है। अतः वह सिर्फ गुजराती भाषा के वाचक वर्ग तक सीमित न रहकर हिन्दी भाषी जिज्ञासु साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के लिए भी उपयोग में आए, इसलिए उसका हिन्दी भावानुवाद करना आवश्यक है। मैंने उन्हें बताया कि मुझे हिन्दी का अनुभव नहीं है, तो उन्होंने तुरंत विनती की कि, मुझे इस पुस्तक का भावानुवाद करने का लाभ दीजिए। इससे अनेक साधकों के लिए साधना मार्ग सरल बनेगा, यह सोचकर मैंने उनकी विनती को सहर्ष स्वीकार किया।

थोड़े ही समय बाद एक दुर्भाग्यपूर्ण दिन उनके गुरुवर्या **सा. श्री हेमप्रभाश्रीजी** के साथ उनका भी अकस्मात दुर्घटना में यकायक कालधर्म हो गया। पर मानो कि उनकी परोक्ष मदद न हो वैसे डॉ. **श्री ज्ञानचंद जैन** ने अनुवाद का कार्य हाथ पर लिया।

आज डॉ. **श्री ज्ञानचंद जैन,** डॉ. **श्रीमती शिल्पा शाह,** डॉ. **श्री दीनानाथ शर्मा** एवं अनेक जिज्ञासु साध्वीजी भगवंतों के योगदान से सूत्र संवेदना भाग १ से ६ हिन्दी में भी प्रकाशित हो रहे हैं।

वाचक वर्ग इस पुस्तक द्वारा अपनी धर्मक्रिया को भावक्रिया बनाने में सफल हो ऐसी शुभाभिलाषा व्यक्त करती हूँ । 'सूत्र संवेदना' की संवेदना के मूलरूप दीक्षायुग प्रवर्तक परम पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा के दीक्षा शताब्दी वर्ष में यह प्रकाशन होने जा रहा है, यह भी आनन्दप्रद है।

लि. सा. प्रशमिताश्री

भादरवा सुद-१४

वि.सं. २०६८

अहमदाबाद

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
१.	**भगवान्हं सूत्र**	**१-४**
	* सूत्र परिचय	१
	* मूल सूत्र	२
	* अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ	२
	* 'भगवान् हं' का विशेषार्थ	२
	* 'आचार्यहं' का विशेषार्थ	३
	* 'उपाध्यायहं' का विशेषार्थ	३
	* 'सर्वसाधुहं' का विशेषार्थ	४
२.	**पडिक्कमण ठावणा सूत्र**	**५-९**
	* सूत्र परिचय	५
	* मूल सूत्र	६
	* अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ	६
	* 'इच्छाकारेण संदिसह... * पडिक्कमणे ठाउं ?' का विशेषार्थ	७
	* 'सव्वस्स वि देवसिअ... * मिच्छा मि दुक्कडं' का विशेषार्थ	८
३.	**इच्छामि ठामि सूत्र**	**१०-४१**
	* सूत्र परिचय	१०
	* मूत्र सूत्र	१२
	* अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ	१३
	* 'इच्छाकरेण संदिसह... * देवसिअं आलोउं ?' का विशेषार्थ	१५
	* 'आलोचना' का विशेषार्थ	१५
	* 'इच्छं' का विशेषार्थ	१७
	* 'आलोएमि... अइआरो कओ' का विशेषार्थ	१७
	* 'काइओ, वाइओ माणसिओ' का विशेषार्थ	१७
	* 'उस्सूत्तो' का विशेषार्थ; उत्सूत्र का स्वरूप एवं उत्सूत्र प्ररूपणा का फल	१८
	* 'उम्मग्गो'का विशेषार्थ	२२
	* 'अकप्पो अकरणिज्जो' का विशेषार्थ	२३
	* 'उस्सूत्तो' आदि पदों में भेद	२४
	* 'दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ' का विशेषार्थ	२५
	* ध्यान और चिंतन का स्वरूप	२६
	* 'अणायारो अणिच्छिअव्वो असावग्गपाउगो' का विशेषार्थ	२८
	* 'नाणे दंसणे' का विशेषार्थ	२९
	* 'चरित्ताचरित्ते' का विशेषार्थ	३१
	* 'सूए सामाइए' का विशेषार्थ	३३
	* 'तिण्हं गुत्तीणं' का विशेषार्थ	३४

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	* 'चउण्हंकसायाणं' का विशेषार्थ	३६
	* 'पंचण्हमणुव्वयाणं' का विशेषार्थ	३८
	* 'तिण्हं गुणवायाणं' का विशेषार्थ	३९
	* 'चउण्हं सिक्खावयाणं' का विशेषार्थ	३९
	* 'बारसविहस्स सावगधम्मस्स मिच्छा मि दुक्कडं' का विशेषार्थ	४०
४.	**नाणंमि दंसणम्मि सूत्र**	**४२-१०६**
	* सूत्र परिचय	४२
	* मूल सूत्र	४५
	* **गाथा-१ नाणंम्मि दंसणम्मि अ... पंचहा भणिओ ।।**	४६
	* अन्वय सहित संस्कृत छाया और गाथार्थ	४६
	* 'ज्ञानाचार' का स्वरूप	४६
	* 'दर्शनाचार' का स्वरूप	४७
	* 'चारित्राचार' का स्वरूप	४७
	* 'तपाचार' का स्वरूप	४७
	* 'वीर्याचार' का स्वरूप	४७
	गाथा-२ काले विणए... नाणमायारो ।।	४८
	* अन्वय सहित संस्कृत	
	* छाया और गाथार्थ	४८
	* 'काले' का विशेषार्थ	४९
	* 'विणए' का विशेषार्थ	५०
	* 'बहुमाणे' का विशेषार्थ	५१
	* 'उवहाणे' का विशेषार्थ	५१
	* 'तह अनिण्हवणे' का विशेषार्थ	५२
	* 'वंजण' का विशेषार्थ	५३
	* 'अत्थ' का विशेषार्थ	५३
	* 'तदुभए' का विशेषार्थ	५४
	* 'अट्ठविहो नाणामायारो' का विशेषार्थ	५५
	गाथा-३ निस्संकिअ	
	* **निक्कंखिअ... पभावणे अट्ठ ।।**	५६
	* अन्वय सहित संस्कृत छाया और गाथार्थ	५६
	* 'निस्संकिअ' का विशेषार्थ	५७
	* 'निक्कंखिअ' का विशेषार्थ	५८
	* 'निव्वितिगिच्छा' का विशेषार्थ	५९
	* 'अमूढदिट्ठी अ' का विशेषार्थ	६१
	* 'उववूह' का विशेषार्थ	६२
	* 'थिरीकरणे' का विशेषार्थ	६४
	* 'वच्छल्ल' का विशेषार्थ	६४
	* 'पभावणे अट्ठ' का विशेषार्थ	६६
	गाथा-४ पणिहाण-जोग... होइ नावव्वो ।।	६८
	* अन्यव सहित संस्कृत छाया और गाथार्थ	६८

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	✱ पाँच समिति एवं तीन गुप्ति की व्याख्या	७०
	गाथा-५ बारसविहम्मि... सो तवायारो ।।	७२
	✱ अन्वय सहित संस्कृत छाया और गाथार्थ	७२
	✱ 'बारसविहम्मि...कुसल दिट्ठे' का विशेषार्थ	७३
	✱ तप और तपाचार का स्वरूप	७३
	✱ 'अगिलाइ अणाजीवी... सो तवायारो' का विशेषार्थ	७४
	गाथा-६ अणसणमूणोअरिआ.. बज्झो तवो होइ ।।	७७
	✱ अन्वव सहित संस्कृत छाया और गाथार्थ	७८
	✱ 'अणसणं' का विशेषार्थ	७८
	✱ 'ऊणोअरिआ' का विशेषार्थ	८०
	✱ 'वित्तीसंखेवणं' का विशेषार्थ	८१
	✱ 'रसच्चाओ' का विशेषार्थ	८२
	✱ 'कायकिलेसो' का विशेषार्थ	८३
	✱ 'संलीणया य' का विशेषार्थ	८४
	✱ 'बज्झो तवो होइ' का विशेषार्थ	८६

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	गाथा-७ पायच्छित्तं	
	✱ **विणओ... अब्भिंतरओ तवो होइ ।।**	८७
	✱ अन्वय सहित संस्कृत छाया और गाथार्थ	८७
	✱ 'पायच्छित्तं' का विशेषार्थ	८८
	✱ 'विणओ' का विशेषार्थ	८९
	✱ 'वेयावच्चं' का विशेषार्थ	९२
	✱ 'तहेव सज्झाओ' का विशेषार्थ	९३
	✱ स्वाध्याय का स्वरूप	९४
	✱ 'झाणं' का विशेषार्थ	९६
	✱ ध्यान का स्वरूप	९६
	✱ धर्मध्यान का स्वरूप	९७
	✱ शुक्लध्यान का स्वरूप	९८
	✱ 'उस्सग्गोवि अ' का विशेषार्थ	१००
	✱ व्युत्सर्ग का स्वरूप	१००
	गाथा-८ अणिगूहिअ-बल... वीरिआयारो ।।	१०२
	✱ अन्वय सहित संस्कृत छाया और गाथार्थ	१०३
	✱ 'अणिगूहिअ-बल-वीरिओ' का विशेषार्थ	१०३
	✱ 'परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो' का विशेषार्थ	१०४
	✱ 'जुंजइ अ... वीरिआयारो' का विशेषार्थ	१०४
५.	**सुगुरु वंदन सूत्र**	**१०७-१३९**
	✱ सूत्र परिचय	१०७

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	* 'इच्छा निवेदन' आदि छः स्थान में सूत्र का विभागीकरण	१०७
	* मूल सूत्र	१०९
	* अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ	११०
	* इच्छा निवेदन स्थान: 'इच्छामि...निसीहिआए' का विशेषार्थ	११३
	* अनुज्ञापन स्थान : 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' का विशेषार्थ	११७
	* 'निसीहि' का विशेषार्थ	११७
	'अहोकायं कायसंफासं... किलामो' का विशेषार्थ	११८
	* अव्याबाधापृच्छा स्थान : 'अप्पकिलंताणं... वइक्कंतो' का विशेषार्थ	१२०
	* संयम यात्रा पृच्छा स्थान : 'जत्ता भे' का विशेषार्थ	१२२
	* यापना पृच्छा स्थान : 'जवणिज्जं च भे ?' का विशेषार्थ	१२४
	* अपराध क्षमापना स्थान : 'खामेमि... वइक्कमं' का विशेषार्थ	१२६
	* 'आवस्सिआए पडिक्कमामि' का विशेषार्थ	१२७
	* 'खमासमणाणं... तित्तीसन्नयराए' का विशेषार्थ	१२८
	* 'जंकिचि मिच्छाए' का विशेषार्थ	१३०
	* 'मणदुक्कडाए, वयदुक्कडाए, कायदुक्कडाए' का विशेषार्थ	१३१
	* 'कोहाए, माणाए, मायाए लोभाए' का विशेषार्थ	१३२
	* 'सव्वकालिआए' का विशेषार्थ	१३३
	'सव्वमिच्छोवयाराए' का विशेषार्थ	१३५
	* 'सव्वधम्माईक्कमणाए' का विशेषार्थ	१३६
	* 'जो मे अइआरो... निंदामि गरिहामि' का विशेषार्थ	१३६
	* 'अप्पाणं वोसिरामि' का विशेषार्थ	१३९
६.	**सात लाख सूत्र**	**१४०-१५१**
	* सूत्र परिचय	१४०
	* मूल सूत्र	१४२
	* 'सात लाख पृथ्वीकाय' का विशेषार्थ	१४२
	* 'सात लाख अप्काय' का विशेषार्थ	१४४
	* 'सात लाख तेउकाय' का विशेषार्थ	१४५
	* 'सात लाख वाउकाय' का विशेषार्थ	१४५
	* 'दश लाख प्रत्येक वनस्पति काय' का विशेषार्थ	१४६
	* 'चौदह लाख साधारण वनस्पति काय' का विशेषार्थ	१४६

क्रम	विषय	पृष्ठ नं.
	❋ 'बे लाख बेइन्द्रिय' का विशेषार्थ	१४७
	❋ 'बे लाख तेइन्द्रिय' का विशेषार्थ	१४७
	❋ 'बे लाख चउरिन्द्रिय' का विशेषार्थ	१४८
	❋ 'चार लाख देवता' का विशेषार्थ	१४८
	❋ 'चार लाख नारकी' का विशेषार्थ	१४८
	❋ 'चार लाख तिर्यंच-पंचेन्द्रिय' का विशेषार्थ	१४८
	❋ 'चौदह लाख मनुष्य' का विशेषार्थ	१४९
	❋ 'एवंकारे चोराशी लाख... मिच्छा मि दुक्कडं' का विशेषार्थ	१४९
७.	**अढारह पाप स्थानक सूत्र**	**१५२-१८१**
	❋ सूत्र परिचय	१५२
	❋ मूत्र सूत्र	१५५
	❋ 'पहले प्राणातिपात' का विशेषार्थ	१५६
	❋ 'बीजे मृषावाद' का विशेषार्थ	१५८
	❋ 'त्रीजे अदत्तादान' का विशेषार्थ	१५९
	❋ 'चौथे मैथुन' का विशेषार्थ	१६०
	❋ 'पांचमे परिग्रह' का विशेषार्थ	१६१
	❋ 'छट्ठे कोध' का विशेषार्थ	१६२
	❋ 'सातमे मान' का विशेषार्थ	१६३
	❋ 'आठमे माया' का विशेषार्थ	१६५
	❋ 'नवमे लोभ' का विशेषार्थ	१६७
	❋ 'दसमे राग' का विशेषार्थ	१६८
	❋ 'अगियारमे द्वेष' का विशेषार्थ	१७०
	❋ 'बारमे कलह' का विशेषार्थ	१७१
	❋ 'तेरमे अभ्याख्यान' का विशेषार्थ	१७२
	❋ 'चौदमे पैशुन्य' का विशेषार्थ	१७३
	❋ 'पंदरमे रति-अरति' का विशेषार्थ	१७४
	❋ 'सोलमे पर-परिवाद' का विशेषार्थ	१७६
	❋ 'सत्तरमे माया-मृषावाद' का विशेषार्थ	१७७
	❋ 'अढारमे मिथ्यात्व शल्य' का विशेषार्थ	१७८
	❋ 'ए अढार पाप स्थानकमांहि... मिच्छा मि दुक्कडं' का विशेषार्थ	१८०

संदर्भ ग्रंथ सूचि

ग्रंथ	कर्ता
१. अध्यात्मसार	प.पू.महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.
२. अध्यात्मोपनिषद्	प.पू.महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.
३. आचार प्रदीप	पं. रत्नशेखरसूरीश्वरजी म.सा.
४. आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय वृत्ति	प.पू.हरिभद्रसूरीश्वरजी म.सा.
५. उत्तराध्ययन सूत्र	गणधर भगवंत श्री सुधर्मास्वामी
६. जीव विचार	प.पू.शान्तिचंद्रसूरीश्वरजी
७. ज्ञानसार	प.पू.महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.
८. तत्त्वार्थधिगम सूत्र	प.पू. उमास्वाति म.सा.
९. तपस्या करतां करतां हो डंका डोर बजाया हो	प.पू. कीर्तियशसूरीश्वरजी म.सा.
१०. दर्शनाचार	पू.प. युगभूषणविजयजी म.सा.
११. दशवैकालिकसूत्रनी हारिभद्रीय वृत्ति	प.पू. हरिभद्रसूरीश्वरजी म.सा.
१२. धर्मसंग्रह	प.पू.मानविजयजी म.सा.
१३. ध्यानशतक	प.पू. हरिभद्रसूरीश्वरजी म.सा.
१४. प्रतिमा शतक	प.पू.महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजीम.सा.
१५. प्रबोध टीका	श्री अमृतलाल कालिदास
१६. प्रशमरति	प.पू.उमास्वाति म.सा.
१७. भाष्यत्रयम्	प.पू.देवन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.
१८. यतिदिन चर्या	प.पू.महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.
१९. योग शास्त्र	कलिकाल सर्वज्ञ प.पू.हेमचन्द्राचार्य म.सा.
२०. योगसार	चिरंतनाचार्य (अज्ञात)
२१. लघु सिद्धांत कौमुदि	श्रीमद् वरदराजाचार्य
२२. शान्त सुधारस	प.पू.विनयविजयजी म.सा.
२३. संबोधसत्तरि	प.पू.हरिभद्रसूरीश्वरजी म.सा.
२४. सम्यक्त्व सप्तति	प.पू.महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.
२५. हितोपदेश	प.पू.प्रभानन्दसूरीश्वरजी म.सा.
२६. १८ पापस्थानकनी सज्झाय	प.पू.महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.
२७. ३५० गाथानुं स्तवन	प.पू.महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.

भगवान् हं सूत्र

सूत्र परिचय :

प्रतिक्रमण की क्रिया पाप से मलिन हुई आत्मा की शुद्धि के लिए की जाती है । इस पावनकारी क्रिया में कोई विघ्न न आए तथा आत्मशुद्धि हो इसलिए परम शुद्ध स्वरूपी अरिहंतादि की वंदना करने हेतु देववंदन किया जाता है । उसके बाद अपने उपकारी गुरु भगवंतों को वंदन करने, इस सूत्र का उपयोग होता है । इस कारण इसे **'भगवदादि वंदन सूत्र'** भी कहते हैं ।

मात्र चार ही पदों से बने इस छोटे से सूत्र में अपने परम उपकारी गुरु भगवंत, आचार्य भगवंत, उपाध्याय भगवंत तथा साधु भगवंतों को वंदन करके, साधक उनके प्रति **कृतज्ञ भाव** व्यक्त करता है ।

इस सूत्र का एक-एक पद, एक-एक खमासमण देकर बोला जाता है । 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए'[1] इतने शब्दों द्वारा गुरु भगवंत से वंदन की अनुज्ञा मांगी जाती है । इन शब्दों से ऐसी भावना व्यक्त की जाती है कि, 'हे क्षमाश्रमण ! मैं आपको शक्तिपूर्वक एवं पाप व्यापार के त्याग पूर्वक वंदन करना चाहता हूँ' । आज्ञा लेने के बाद 'मत्थएण वंदामि' पद के साथ इस सूत्र के 'भगवान् हं' वगैरह हर एक पद को क्रम पूर्वक जोड़ते हुए 'मत्थएण वंदामि भगवान् हं' इस प्रकार साथ में बोलकर, मस्तक को जमीन पर टेकते हुए नमनपूर्वक वंदन किया जाता है । इसके द्वारा - 'हे भगवंत! (हे

1. 'इच्छामि खमासमणो' का अर्थ सूत्र संवेदना भा. १ में देखिए ।

आचार्य !...वगैरह) मैं आपको मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ' - ऐसा कृतज्ञता सहित बहुमान भाव प्रकट करना है ।

यह सूत्र योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति एवं चिरंतनाचार्य कृत प्रतिक्रमण विधि में देखने को मिलता है । इस सूत्र की भाषा अपभ्रंश है ।

मूल सूत्र :

भगवान्हं, आचार्यहं, उपाध्यायहं, सर्वसाधुहं ।।

अक्षर-१९

अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :

भगवान्हं, आचार्यहं, उपाध्यायहं, सर्वसाधुहं ।।

भगवद्भ्य:, आचार्येभ्य:, उपाध्यायेभ्य:, सर्वसाधुभ्य: ।।

भगवंतों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को और सभी साधुओं को (मैं वंदन करता हूँ)

विशेषार्थ :

भगवान्हं[2] - धर्माचार्यों को (मैं मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ)

'भग' अर्थात् ऐश्वर्यादि गुण एवं 'वान्' अर्थात् वाले । जो ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त हैं, जिन्होंने शास्त्र के परमार्थ को प्राप्त किया है, जो सुविशुद्ध संयम को धारण करनेवाले हैं, मोक्ष के महाआनंद को प्राप्त करने एवं अनेक जीवों को इस मार्ग तक पहुँचाने के लिए जो प्रयत्नशील हैं, ऐसे मेरे परम उपकारी गुरु भगवंतों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

'भगवान् हं[3]' शब्द अरिहंत का वाचक है या धर्माचार्य का ? इस संबंध में

2. 'भगवान्हं' आदि रूप भगवानादि शब्दों में 'हं' प्रत्यय लगने से बना है । हं प्रत्यय (अपभ्रंश भाषा के नियम अनुसार) षष्ठी बहुवचन में उपयोग हुआ है । प्राकृत में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हो सकता है ।

3. 'भग' की विशेष समझ के लिए देखिए 'सूत्र-संवेदना' भाग-२ 'नमोऽत्थुणं' सूत्र । वहाँ बताया हुआ 'भग' शब्द का अर्थ अरिहंत के लिए सर्वश्रेष्ठ कोटि का बनता है, गुरु भगवंत के लिए उससे अल्प कोटि का बनता है ।

भिन्न-भिन्न अभिप्राय सामने आते हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में गुरुवंदन का अधिकार होने से गच्छ के नायक अथवा जिनके द्वारा स्वयं को सम्यक् प्रकार से प्रभु का मार्ग (मोक्षमार्ग - योगमार्ग) प्राप्त हुआ हो, वैसे गुरु भगवंत, तीर्थंकर, गणधर, आचार्य या सामान्य मुनि; सभी को इस पद से ग्रहण करना ज्यादा उचित लगता है; फिर भी, इस विषय पर बहुश्रुत विचार करें, ऐसी विनती है ।

इस पद को बोलते हुए, सुख की परंपरा का सृजन करनेवाले, धर्म को देनेवाले, अनन्य उपकारी गुरु भगवंतों तथा उनके द्वारा किए हुए उपकारों को स्मृतिपट में लाकर, उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञ भाव व्यक्त करने हेतु उनके चरणों में मस्तक झुकाकर वंदना करनी चाहिए । भावपूर्वक वंदन करने से गुरु भगवंतों के प्रति आदरभाव की वृद्धि होती है । फलतः सत्कार्य में विघ्नकारी कर्मों का विनाश होता है ।

आचार्यहं[4] - आचार्य भगवंतों को (मस्तक झुकाकर मैं वंदन करता हूँ)

अरिहंत भगवंत की अनुपस्थिति में शुद्ध प्ररूपणा करके जो शासन का उत्तरदायित्व वहन करते हैं, जो पंचाचार के पालन में सदा रत हैं, छत्तीस छत्तीस गुणों से जो शोभायमान हैं, आचार्यपद से जो अलंकृत हैं, ऐसे आचार्य भगवंतों को, इस पद द्वारा मस्तक झुकाकर वंदन किया जाता है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए विशिष्ट गुण संपन्न आचार्य भगवंतों को स्मृति पट पर लाकर, उनके किए हुए उपकारों को याद करके, भक्ति एवं आदरपूर्वक उनके चरणों में मस्तक झुकाकर वंदन करना चाहिए । इस तरीके से, वंदना करने से पंचाचार में विघ्न करनेवाले कर्म दूर होते हैं ।

उपाध्यायहं[5] - उपाध्याय भगवंतों को (मस्तक झुकाकर मैं वंदन करता हूँ ।)

---

4. आचार्य पद की विशेष समझ के लिए देखिए 'सूत्र संवेदना' भाग-१ (सूत्र नं. तथा २)

5. उपाध्याय की विशेष समझ के लिए देखिए 'सूत्र-संवेदना' भाग-१ (सूत्र नं. १)

४५ आगमों के जो ज्ञाता हैं, शिष्य समुदाय को जो निरंतर सूत्र प्रदान करते हैं, जिनके सान्निध्य में रहने एवं उपदेश सुनने से दुर्बुद्धि का नाश होता है तथा सद्बुद्धि की प्राप्ति होती है, और जो विनय आदि अनेक गुणों के भंडार हैं, ऐसे उपाध्याय भगवंतों को इस पद द्वारा मस्तक झुकाकर वंदन किया जाता है ।

इस पद को बोलते हुए अपने परम उपकारी तीर्थंकरों के उपाध्याय समान गणधर भगवंत एवं वर्तमान में हुए महामहोपाध्याय श्रीमद् विजय यशोविजयजी म.सा. जैसे उपाध्याय भगवंतों को स्मरण में लाकर उनके प्रति अत्यन्त अहोभाव व्यक्त करके, उनके चरणों में मस्तक झुकाकर वंदन करना चाहिए । उपाध्याय भगवंत को भावपूर्वक वंदन करने से प्रतिक्रमण के सूत्रार्थ विषयक ज्ञान में या प्रतिक्रमण करने में विघ्नकर्ता कर्मों का विनाश होता है ।

सर्वसाधुहं[6] - सर्व साधु भगवंतों को (मस्तक झुकाकर मैं वंदन करता हूँ ।)

जो सतत मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, जो सर्वज्ञ भगवंत की आज्ञानुसार संपूर्ण सात्त्विक जीवन जीते हैं, अनेक साधकों को जो सहायक बनते हैं, तप और त्याग से जो सुशोभित हैं, उन सभी साधुभगवंतों को इस पद द्वारा मस्तक झुकाकर वंदन किया जाता है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए सर्वज्ञ भगवंतों के वचनानुसार जीवन जीने वाले सर्व साधु भगवंतों को स्मृतिपट पर अंकित कर, उनके चरणों में मस्तक झुकाकर, उनको भावपूर्ण हृदय से वंदना करनी चाहिए । ऐसी वंदना प्रतिक्रमण जैसी शुभ क्रिया में सत्त्व का प्रकर्ष करवाती है ।

6. साधुपद की विशेष समझ के लिए देखिए 'सूत्र-संवेदना' भाग-१ (सूत्र नं. १) श्रावक श्राविकाओं को चार पद बोलकर "समस्त श्रावकों को वंदन करता हूँ" ऐसा कहना चाहिए । 'इच्छकारि समस्त श्रावक वंदु' ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ।

पडिक्कमण ठावणा सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र द्वारा प्रतिक्रमण क्रिया की स्थापना होती है, इसलिए इसका नाम **'प्रतिक्रमण स्थापना सूत्र'** है - इसके अतिरिक्त, संपूर्ण प्रतिक्रमण का सार इस छोटे से सूत्र में समाविष्ट होने से इस सूत्र को **'लघु प्रतिक्रमण सूत्र'** भी कहते हैं एवं संपूर्ण प्रतिक्रमण का इस सूत्र में संक्षेप में समावेश होने से 'धर्मसंग्रह' में इस सूत्र का उल्लेख **'सकल प्रतिक्रमण बीज'** रूप से भी किया गया है ।

किसी भी वस्तु का निरूपण करने के लिए पहले उस वस्तु के विषय का निर्देश किया जाता है, बाद में उसकी सामान्य जानकारी दी जाती है एवं उसके बाद वस्तु का विस्तृत विचार किया जाता है । प्रतिक्रमण की क्रिया में भी ऐसी ही पद्धति अपनाई है ऐसा लगता है ।

सर्वप्रथम, प्रतिक्रमण किस विषय का करना है, यह इस सूत्र द्वारा बताया गया है । उसके बाद प्रतिक्रमण की सामान्य जानकारी **'इच्छामि ठामि सूत्र'** में दी गई है एवं विस्तृत जानकारी **'वंदित्तु सूत्र'** में बताई गई है । वंदित्तु सूत्र में बताई गई जानकारी को भी सभी समझ सकें इसलिए गुजराती भाषा में उसका विस्तार 'अतिचार' में है । इस तरह उत्तरोत्तर सूत्रों में पीछे की बातों का विस्तार है ।

अनादि कुसंस्कारों के कारण जीव को पाप करने का भाव होना सहज है, परन्तु पाप से वापस लौटकर स्वभाव में (स्वस्थान में) स्थिर होने का प्रयत्न करना साधक के लिए भी आसान नहीं है। इस प्रयत्न को सरल और सहज बनाने के लिए ही प्रतिक्रमण की क्रिया करने से पहले परम उपकारी परमात्मा की स्तवनारूप चार थुई का देववंदन किया जाता है और उसके बाद चार खमासमण देकर, गुरु को वंदन करने स्वरूप मंगलाचरण किया जाता है । इस प्रकार देव-गुरु को वंदन करके, उनकी कृपा का पात्र बनकर, प्रतिक्रमण करने की शक्ति इक्कट्ठी करके, प्रतिक्रमण का प्रारंभ करते समय मस्तक को पृथ्वी पर एवं दाहिने हाथ को चरवले के उपर रखकर, मुखवस्त्रिका युक्त बाँए हाथ को मुख के आगे रखकर, यह सूत्र बोला जाता है । ऐसी मुद्रा से साधक को 'मैं अपने आप को प्रतिक्रमण में स्थापित करता हूँ', ऐसा स्पष्ट बोध होता है ।

वंदित्तु सूत्र बोलने से पहले भी प्रतिक्रमण की अनुज्ञा मांगने के लिए यह सूत्र बोला जाता है ।

आवश्यक निर्युक्ति के प्रतिक्रमण आवश्यक में एवं धर्मसंग्रह तथा योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में इस सूत्र का सटीक उल्लेख है ।

मूल सूत्र :

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअ पडिक्कमणे ठाउं ?

इच्छं ।

सव्वस्स वि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ

मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अक्षर - २६

अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :

भगवन् ! देवसिअ पडिक्कमणे ठाउं ? इच्छाकारेण संदिसह ।

भगवन् ! दैवसिक प्रतिक्रमणे स्थातुम् इच्छाकारेण संदिशत ।

हे भगवंत ! दैवसिक प्रतिक्रमण में स्थित होने की (आप मुझे) स्वेच्छा से आज्ञा प्रदान करें ।

इच्छं ।

इच्छामि ।

(यह शब्द अनुज्ञा के स्वीकार में बोला गया हैं । इसका अर्थ है आपकी अनुज्ञा से) मैं यह कार्य करना चाहता हूँ ।

देवसिअ दुच्चिंतिय दुब्भासिय दुच्चिट्ठिअ सव्वस्स वि मिच्छा मि दुक्कडं ।

दैवसिकस्य दुश्चिन्तितस्य दुर्भाषितस्य दुश्चेष्टितस्य सर्वस्य अपि मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

दिवस दौरान मन से जो दुष्ट चिंतन हुआ हों, वाणी से जो दुष्ट भाषण हुआ हों, एवं काया से जो दुष्ट चेष्टा हुई हों, वे सभी मेरे पाप मिथ्या हों ।

विशेषार्थ :

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअ पडिक्कमणे ठाउं ?
'हे भगवंत ! आप मुझे दैवसिक प्रतिक्रमण में स्थिर रहने की स्वेच्छा से आज्ञा दीजिए ।'

'हे भगवंत !' यह शब्द उपकारी गुणवान गुरु भगवंत के संबोधन में प्रयुक्त किया गया है । दृष्टिपथ में रहे या स्मृति में रहे गुरु भगवंत को ध्यान में रखकर साधक कहता है : 'हे भगवंत ! दिवस के दौरान मन, वचन, काया द्वारा मुझ से कई पाप हुए हैं, यह ठीक नहीं हुआ, क्योंकि उनके कटु परिणाम मुझे ही सहन करने पडेंगे । मुझे अपनी आत्मा को इन पापों एवं उनके संस्कारों से वापिस लाकर निष्पाप भाव में स्थापित करना है । हे भगवंत ! प्रतिक्रमण की इस क्रिया की योग्यता मुझ में दिखती हो, तो आप मुझे स्वेच्छा से प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दीजिए, लेकिन मेरा आग्रह है इसलिए विवशता से नहीं ।'

प्रतिक्रमण जैसे शुभ कार्य करने से पहले गुणवान गुरु भगवंतों को उस कार्य संबंधी इच्छा प्रदर्शित करनी चाहिए एवं तत् संबंधी गुर्वाज्ञा प्राप्त करने के बाद ही उन कार्यों का प्रारंभ करना चाहिए, यह जैन शासन की विशिष्ट प्रकार की मर्यादा एवं विनय है। इस मर्यादा के पालन से अहंकारादि दोष नाश होते हैं एवं नम्रतादि गुण प्रकट होते हैं ।

शिष्य की प्रतिक्रमण करने की इच्छा एवं योग्यता जानकर, प्रतिक्रमण के योग्य अवसर हो तो अनुज्ञा देते हुए गुरु भगवंत कहते हैं,

[‘ठाएह’] - तुम अपनी आत्मा को प्रतिक्रमण में स्थिर करो ।

यह शब्द सुनकर अपने इस कार्य में गुरु भगवंत की सम्मति है, ऐसा मानकर आनंदपूर्वक विनयी शिष्य या श्रावक, गुरु आज्ञा का स्वीकार करते हुए कहता है,

‘इच्छं’ - भगवंत, आप की आज्ञा मुझे स्वीकार है ।

‘इच्छं’ शब्द हर एक को अवश्य बोलना चाहिए ।

अब पाप से वापिस लौटने की इच्छा रखनेवाला शिष्य प्रतिक्रमण करते हुए कहता है,

सव्वस्स वि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ मिच्छा मि दुक्कडं । - दिवस दौरान दुष्ट चिंतन से, दुष्ट वाणी से एवं दुष्ट चेष्टा से जिन अतिचारों का सेवन हुआ हो, उन संबंधी मेरा पाप मिथ्या हो ।

दुच्चिंतिअ - आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान का कारण बने वैसी स्वीकृत व्रतों को मलिन करनेवाली एवं आत्मा का अहित करनेवाली मन की विचारणा को (चिंतन को) दुष्ट चिंतन कहते हैं ।

दुब्भासिअ - क्रोधादि कषायों के अधीन होकर, पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होकर, संज्ञा आदि के परवश बन व्रत-मर्यादा को तोड़े, अपनी भूमिका भुलाए, कुल-मर्यादा का ख्याल रखे बिना वचनों का प्रयोग करना दुष्ट भाषण है अथवा स्व-पर के लिए अहितकारी, कर्कश, अप्रिय या हिंसक वचन भी दुष्ट भाषण कहलाता है ।

दुच्चिट्ठिअ - हिंसादि के कारणभूत अजयणा से चलना, दौड़ना, कूदना, घुमना फिरना वगैरह अनेक प्रकार की अहितकारी कायिक चेष्टाओं को दुष्ट चेष्टा कहते हैं ।

इस प्रकार यहाँ मात्र तीन पदों में प्रतिक्रमण किसका करना है, इसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है । इस संक्षिप्त वर्णन में अनेक दृष्टिकोण एवं भेदों का समावेश हो जाता हैं । जब तक अपने खराब विचार, खराब वाणी या खराब व्यवहार के प्रति दुःख, पश्चात्ताप-तिरस्कार नहीं होता, तब तक प्रतिक्रमण का प्रारंभ ही नहीं हो सकता । इस सूत्र द्वारा इन दुष्ट विचारों, दुष्ट वाणी एवं दुष्ट चेष्टाओं के प्रति एक तीव्र तिरस्कार उत्पन्न होता है, इसीलिए इस सूत्र को प्रतिक्रमण का बीज कहते हैं । पाप के प्रति धृणा की इस भावना पर ही संपूर्ण प्रतिक्रमण की सफलता निर्भर है ।

इस पद का उच्चारण करते समय साधक सोचता है कि,

> "आज के दिन विषयों में आसक्त होकर कषायों को वश बनकर, प्रमाद आदि दोषों के कारण मैंने मन से न करने योग्य कितने दुष्ट विचार किये हैं ? मेरे स्वार्थ को पुष्ट करने मेरे कुल को या मेरे धर्म को उचित हो ऐसी वाणी मुझ से कितनी बार ही बोली गई है । शरीर की शोभा इत्यादि के लिए मैंने कितनी ही बार काया की दुचेष्टाओं की है । हे भगवंत मैं ने ये गलत किया है । इसका मुझे दुःख है । दुःख से आर्द्र हृदय से उन सब पाप के लिए मैं मिच्छा मि दुक्कडं[1] देता हूँ । फिर से ऐसा पाप न हो जाए इसलिए संकल्प करता हूँ ।"

पाप करते समय जितने तीव्र अशुभ भाव हुए हों यह पद बोलते समय उनसे अधिक तीव्र शुभ भाव उत्पन्न हों याने पाप के प्रति तिरस्कार और पश्चात्ताप का भाव अधिक हो, तो ही किए हुए पाप मिथ्या हो सकते हैं ।

1. 'मिच्छा मि दुक्कडं' का विशेष अर्थ सूत्र संवेदना भाग-१ में सूत्र नं. ५ में देखे ।

'इच्छामि ठामि' सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र द्वारा दिनभर में लगे हुए अतिचारों की आलोचना की जाती है, इसलिए इस सूत्र का दूसरा नाम '**अतिचार आलोचना**' सूत्र है ।

इमारत (मकान) में से गिरते हुए एक कंकण की भी अगर उपेक्षा की जाए, तो एक दिन पूरी इमारत मिट्टी में मिल सकती है, उसी तरह लिए हुए व्रतों में यदि बार बार दोष लगते रहें एवं उसकी उपेक्षा की जाए तो स्वीकृत व्रतों का भी एक दिन सर्वथा विनाश हो जाता है । यह व्रतविनाश, दुरंत संसार का कारण बनता है ।

इसीलिए व्रतधारी श्रावकों को अपने व्रत में किसी प्रकार का स्खलन न हो, इस बात का सतत ध्यान रखना चाहिए, ऐसा होते हुए भी अनादि काल से अभ्यस्त प्रमादादि दोषों के कारण अतिचार लगने की संभावना रहती है । लगे हुए इन अतिचारों के स्मरण तथा शोधनपूर्वक आत्मशुद्धि करने को उत्सुक साधक सर्वप्रथम '**इच्छामि ठामि काउस्सग्गं**' पद पूर्वक यह सूत्र बोलकर कायोत्सर्ग में रहता है और उस कायोत्सर्ग के दौरान वह 'नाणम्मि' वगैरह सूत्र के सहारे ज्ञानादि गुणों में जहाँ जहाँ दोष लगे हों, उनका चिंतन करता है । चिंतन किए हुए उन अतिचारों को स्मृतिपट पर अंकित करके, काउस्सग्ग पूर्ण करके, उन अतिचारों की आलोचना करने के लिए, विनयपूर्वक गुरु भगवंत को

वंदन कर, अनुज्ञा मांगकर, दुबारा **'देवसिअं आलोउं'** इन पदों सहित इस सूत्र द्वारा चिंतन करके याद रखे हुए उन अतिचारों को गुरु भगवंत के समक्ष प्रकट करता है । शास्त्रीय भाषा में इसे आलोचना प्रायश्चित्त कहा जाता है, उसके बाद श्रावक जब 'वंदित्तु' सूत्र एवं श्रमण भगवंत 'पगाम सज्झाय' बोलकर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करते हैं, तब उसके पूर्व तीसरी बार यह सूत्र बोला जाता हैं, उस समय दोषों से वापस लौटने के लिए **'इच्छामि पडिक्कमिउं'** पद सहित यह सूत्र बोलकर सामान्य तौर से पाप का प्रतिक्रमण करते हैं एवं उसके बाद विशेष तौर से पापों का प्रतिक्रमण करने के लिए 'वंदित्तु' सूत्र बोलते हैं । इसके अतिरिक्त प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग आवश्यक करने के पूर्व चौथी बार यह सूत्र बोला जाता है । उस समय पुनः **'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं'** पदों सहित बोला जाता है, जिससे फिर एक बार अतिचारों की शुद्धि करके आत्मा को और ज्यादा निर्मल करने का प्रयत्न किया जाता है । इस तरह यह एक ही सूत्र तीन प्रकार के पदों को बदलते हुए प्रतिक्रमण की क्रिया में चार[1] चार बार उपयोग में लिया जाता है ।

अत्यंत दुःखी हृदय से, विभिन्न दोषों के प्रति तीव्र तिरस्कारपूर्वक पुनः ऐसे अतिचार-दोषों का सेवन न करने के संकल्प के साथ इस सूत्र के एक एक शब्द को इस तरीके से बोलना चाहिए कि, दोषों के कारण हुई व्रत की स्खलना दूर हो, बंधे हुए पाप कर्मों का नाश हो एवं प्रमादादि दोषों के संस्कार निर्बल हों ।

अतिचार की आलोचना करने के लिए इस सूत्र में सर्व प्रथम यह बताया गया है कि, किससे पाप हुआ? और किन किन प्रकार से पाप हुआ है ? उसके बाद जिन गुणों के पोषण के लिए व्रत नियम का स्वीकार किया गया है, उन ज्ञानादि गुण विषयक अतिचारों का आलोचन किया गया है और अंत में श्रावक के स्वीकारे हुए बारह व्रतों में जो खंडना-विराधना हुई हो, उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' दिया गया है ।

---

1. एतच्चातिचारसूत्रं सामायिकसूत्रानन्तरमतिचारस्मरणार्थम् उच्चारितं, पुनर्वन्दनकानन्तरं गुरोः स्वातिचारज्ञापनार्थमधीतम्, इह तु प्रतिक्रमणाय, पुरतस्तु पुनरतिचाराशुद्धेर्विमलीकरणार्थ-मुच्चारयिष्यते । - धर्मसंग्रह की टीका

दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक इन पाँचों प्रतिक्रमण में इस सूत्र का उपयोग किया जाता है और तब उन उन स्थानों पर 'देवसिअ' के बदले 'राइयं' इत्यादि बोला जाता है ।

इस सूत्र का उपयोग श्रावक एवं साधुवर्ग दोनों करते हैं, लेकिन श्रमण भगवंत जब इसका उपयोग करते हैं, तब उनके व्रत नियम के अनुरूप शब्द प्रयोग करते हैं । यहाँ श्रावक प्रतिक्रमण का विश्लेषण होने से एवं श्रमण सूत्रों का अन्यत्र विवेचन करने की भावना होने से, श्रमण विषयक सूत्र के शब्दों का यहाँ विवेचन नहीं किया गया है ।

इस सूत्र का अर्थ करने में मुख्यतया 'आवश्यक निर्युक्ति' की हारिभद्रीय टीका का आधार लिया गया है । धर्मसंग्रह, आवश्यक-निर्युक्ति-दीपिका योगशास्त्र आदि अनेक ग्रंथों में से भी इस सूत्र संबंधी विशेष जानकारी प्राप्त होती है । गहन अध्ययन करने के इच्छुक जिज्ञासुओं को इन सब ग्रंथों को देखना चाहिए।

मूल सूत्र :

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअं आलोउं ?
इच्छं, आलोएमि ।
जो मे देवसिओ अइआरो कओ,
काइओ वाइओ माणसिओ,
उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो,
दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ,
अणायारो अणिच्छिअव्वो असावग-पाउग्गो,
नाणे, दंसणे, चरित्ताचरित्ते, सुए, सामाइए ।
तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं,
पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं,

बारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडिअं, जं विराहिअं,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अक्षर - १६७

अन्वय सहित संस्कृत छाया एवं शब्दार्थ :

भगवन् ! इच्छाकारेण संदिसह देवसिअं आलोउं ?

भगवन् ! इच्छाकारेण संदिशत, दैवसिकम् (अतिचारं) आलोचयानि ?

हे भगवंत ! इच्छापूर्वक मुझे अनुज्ञा दीजिए, मैं दिवसभर में हुए अतिचारों की आलोचना करुं ?

गुरु कहे : ***आलोएह*** **-** *आलोचय* - आलोचना करो.

तब शिष्य आज्ञा के स्वीकार रूप कहता है -

इच्छं,

इच्छामि,

मैं (आपकी आज्ञानुसार करने के लिए) इच्छुक हूँ ।

जो मे देवसिओ अइआरो कओ आलोएमि ।

यः मया दैवसिकः अतिचारः कृतः (तम्) आलोचयामि ।

मुझसे दैवसिक = दिवस संबंधी जो भी अतिचार हुए हों (उनकी) मैं आलोचना करता हूँ ।

(और वे अतिचार कैसे हैं एवं किस तरीके से हुए हैं, यह बताते हुए कहता है)

काइओ वाइओ माणसिओ,

कायिकः वाचिकः मानसिकः,

काया संबंधी, वचन संबंधी, मन संबंधी ।

उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो,

उत्सूत्रः उन्मार्गः अकल्प्यः अकरणीयः,

(और वे अतिचार) उत्सूत्ररूप हों, उन्मार्ग रूप हों, अकल्प्य हों (एवं) अकरणीय हों,

दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ,

दुर्ध्यानतः दुर्विचिन्तितः

दुर्ध्यानरूप हों एवं दुष्ट चिंतनरूप हों

असावग-पाउग्गो, अणायारो अणिच्छिअव्वो,

अश्रावक-प्रायोग्यः, अनाचारः अनेष्टव्यः,

(इस उत्सूत्र से लेकर अकरणीय तक के एवं दुर्ध्यान एवं दुष्ट चिंतनरूप अतिचार) अश्रावक प्रायोग्य है अर्थात् श्रावक को करने योग्य नहीं हैं, इसलिए वे अनाचार रूप हैं (इसीलिए ही) अनीच्छनीय (भी) हैं ।

(अब ये अतिचार किन विषयों में होते हैं - यह बताते हैं ।)

नाणे दंसणे चरित्ताचरित्ते,

ज्ञाने दर्शने चारित्राचारित्रे,

ज्ञान के विषय में, दर्शन के विषय में, देश विरति चारित्र के विषय में

(अब दूसरे तरीके से इन्हीं अतिचारों की विचारणा की जाती है।)

सुए सामाइए,

श्रुते सामायिके,

श्रुत के विषय में एवं सामायिक के विषय में

(अब चारित्र के विषय में जो अतिचार लगते हैं, वह बताते हैं-)

तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं,

तिसृणां गुप्तीनाम्, चतुर्णां कषायाणाम्,

तीन गुप्तिओं का, चार कषायों का

पंचण्हं अणुव्वयाणं तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्हं सिक्खावयाणं बारसविहस्स सावगधम्मस्स ।

पञ्चानाम् अणुव्रतानाम्, त्रयाणां गुणव्रतानां, चतुर्णां शिक्षाव्रतानां द्वादशविधस्य श्रावकधर्मस्य ।

पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों (एवं) चार शिक्षाव्रतों रूप बारह प्रकार के श्रावक धर्म ।

जं खंडिअं, जं विराहिअं,

यत् खण्डितं, यद् विराधितम्,

जिस (प्रकार से) खंडित हुए हों, जिस (प्रकार से) विराधित हुए हों ।

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

उसका मेरा दुष्कृत मिथ्या हों !

विशेषार्थ :

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसिअं[2] आलोउं ? - हे भगवंत ! इच्छा सहित आप मुझे आज्ञा दें, मैं दिन भर में हुए अतिचारों की आलोचना करुँ ?

दैवसिक प्रतिक्रमण में द्वादशावर्त वंदन से (वांदना से) गुरु भगवंत को वंदन करने के बाद, गुरु के अवग्रह में रहकर ही दिवस संबंधी अतिचार - पापों की आलोचना करने के लिए नत मस्तक खड़ा रहकर शिष्य विनयपूर्वक गुरु भगवंत को संबोधन करके पूछता है : 'भगवंत ! मुझसे दिवस संबंधी जो जो अतिचार हुए हैं, उनकी आप के समक्ष आलोचना करूँ ?'

'आलोचना' शब्द **'आ'** उपसर्ग पूर्वक लुच् धातु से बना है । उसमें **'आ'** अर्थात् मर्यादा से अथवा समस्तरूप से एवं **'लोचना'** अर्थात् प्रकाशना, इस तरह गुरु भगवंत के समक्ष मर्यादापूर्वक समस्त पाप प्रकाशित करना आलोचना है ।

2. यहां दैवसिक तथा उपलक्षण से रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिक अतिचार भी उस उस समय के लिए समझ लें । उसमें दिवस वगैरह की आलोचना में व्यवहार में प्रचलित काल मर्यादा इस प्रकार है : दिवस के मध्य भाग से आरंभ करते हुए रात्रि के मध्य भाग तक दैवसिक एवं रात्रि के मध्य भाग से आरंभ करके दिवस के मध्य भाग तक रात्रिक अतिचारों की आलोचना हो सकती है अर्थात् दैवसिक या रात्रिक प्रतिक्रमण इस प्रकार हो सकता है । उत्सर्ग से तो सूर्योदय से पूर्व राइअ प्रतिक्रमण हो जाना चाहिए एवं दैवसिक प्रतिक्रमण का 'वंदित्तु' सूत्र सूर्यास्त के समय पर आना चाहिए एवं पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक आलोचना प्रतिक्रमण तो वह पक्ष, चातुर्मास या वर्ष पूर्ण हो तब हो सकता है । जहाँ जहाँ 'देवसिअ' शब्द आए वहाँ उस प्रकार से बदलाव समझ लेना चाहिए ।

मर्यादा से अर्थात् जो पाप जिस क्रम से किए हों एवं जिस भाव से किए हों, उन पापों को उसी क्रम एवं भाव से याद करके गुरु भगवंत के समक्ष विधिपूर्वक पूर्णतया अर्थात् सभी पापों को क्रम से या उत्क्रम से गुरु भगवंत के पास कहना, वह आलोचना है । दश प्रकार के प्रायश्चित्तों[3] में यह पहले प्रकार का प्रायश्चित्त है ।

आलोचना करते समय साधक को सोचना चाहिए कि, "मेरे द्वारा ऐसे पाप क्यों हुए ? मैं किस कषाय के अधीन बना ? मैं कहाँ प्रमाद के वश हुआ कि, जिसके कारण मुझसे इन पापों का आसेवन हुआ ? यदि अपनी आत्मा से इन दोषों को दूर नहीं करूँगा, तो पुनः पुनः ये पाप मुझे लगते ही रहेंगे । इसलिए आलोचना करने के पूर्व, उन उन दोषों से अपनी आत्मा को बचाना बहुत जरूरी है । इसके अतिरिक्त, अब तक मैंने जो अतिचारों का सेवन किया है, उनकी सजा मुझे ही भुगतनी पडेगी। इन पापों के कारण ही मेरी जन्म-मरण की परंपरा बढनेवाली है एवं मोक्ष के महासुख से मैं वंचित रहनेवाला हूँ । अगर अब मुझे जन्म-मरण के फेरे से मुक्त होना है, दुःख का भाजन नहीं बनना है एवं शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करना है, तो तीव्र पश्चात्तापपूर्वक इन पापों को गुरु भगवंत समक्ष इस तरीके से प्रकट करूँ, जिससे किए हुए पाप कर्मों का सर्वथा विनाश हो एवं भविष्य में ये पाप, उस भाव से नहीं ही हों ।" ऐसी विचारणा किए बिना, मात्र शब्द बोलने से, किए हुए पापों का प्रायश्चित्त नहीं हो सकता; परन्तु राग-द्वेष आदि जिन अशुभ भावों से पाप किए हों, उनके विरुद्ध भावों से हृदय को भावित कर अपने द्वारा किए हुए पापों की आलोचना करने के लिए गुरु भगवंत से अनुज्ञा मांगनी चाहिए।

[आलोएह] - तुम आलोचना करो ।

इस शब्द को बोलकर गुरु शिष्य को आलोचना करने की अनुज्ञा देते हैं, जिसको सुनकर विनयसंपन्न शिष्य गुरु की आज्ञा का स्वीकार करते हुए कहता है -

3. दश प्रकार के प्रायश्चित्त की विशेष जानकारी के लिए सूत्र संवेदना भा. १ में सूत्र नं. ७ देखिए तदुपरांत इस संबंधी विशेष बातें नाणम्मि सूत्र गाथा नं. ७ में भी है ।

इच्छं - 'भगवंत ! आपकी आज्ञा के मुताबिक मैं आलोचना करना चाहता हूँ ।'

इन शब्दों का प्रयोग करने के पूर्व जिस साधक ने पाप एवं पाप के फल का विचार किया होता है, उसे उन पापों के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हुई ही होती है। इसीलिए वह साधक अब पीछे के शब्द ज्वलंत उपयोगपूर्वक बोलता है ।

आलोएमि जो मे देवसिओ अइआरो कओ - दिन के दौरान मैंने जिस किसी भी अतिचार का सेवन किया हो, उसकी मैं आलोचना करता हूँ ।

'अतिचार'[4] शब्द का सामान्य अर्थ उल्लंघन करना होता है । श्रावक या साधु भगवंत की जो मर्यादाएँ हैं, उन्होंने जो व्रत-नियम स्वीकार किए हैं, उन मर्यादाओं का उल्लंघन करके-मर्यादाओं को तोड़कर जो आचरण हुआ हो या किया हो, उसे अतिचार कहते हैं। यह शब्द बोलते समय दिन में हुए सभी अतिचारों को स्मृति में लाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अब दिनभर में सामान्य से जो अतिचार हुए हों वे बताते हैं :

काइओ, वाइओ, माणसिओ - कायिक, वाचिक एवं मानसिक (जो अतिचार लगे हों)

दिवस संबंधी जो अतिचार लगे हों उन्हें तीन विभाग में विभाजित किए गए हैं - कुछ अतिचार काया से हुए होते हैं, कुछ वचन से एवं कुछ अतिचार मन

---

4. **अतिचरणमतिचारः** शास्त्र में किसी भी व्रत नियम के उल्लंघन की चार भूमिकाएं बताई हैं । :
१ - अतिक्रम २ - व्यतिक्रम ३ - अतिचार ४ - अनाचार

१. अतिक्रम : स्वीकारे हुए व्रत का खंडन हो, वैसा विचार करना, जैसे कि आम नहीं खाने का, नियम लेने के बाद कभी सुंदर आम का फल देखने पर उसको खाने का विचार आना या इच्छा होना अतिक्रम है ।

२. व्यतिक्रम : स्वीकार किए हुए व्रत का खंडन हो वैसी बातचीत करना जैसे कि आम किस तरीके से प्राप्त करना, उस संबंधी बातचीत करना व्यतिक्रम है ।

३. अतिचार : लिए हुए व्रत का खंडन हो वैसा प्रयत्न, जैसे कि, आम लेने के लिए भी कदम बढ़ाना, आम लाना, मुँह के नजदीक तक ले जाना, जहाँ तक ना खाए, वहां तक की प्रवृत्ति या विचार अतिचार है ।

४. अनाचार : लिए हुए व्रत का पूरी तरह से खंडन हो वैसा प्रवर्तन, जैसे कि आम खाना, वह अनाचार है।

से हुए होते हैं । यह पद बोलते हुए अनुपयोग से या विषय, कषाय के अधीन होकर दिन भर में मन-वचन-काया से हुई सर्व प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करना चाहिए एवं इन तीन योगों द्वारा कौन से अतिचार किस तरीके से कितनी मात्रा में लगे उनका स्मरण कर गुरु समक्ष उनकी आलोचना करनी चाहिए ।

अब मन, वचन एवं काया से कौन से पाप लगे हैं, उन्हें विशेष तौर से बताते हैं :

उस्सुत्तो[5] - शास्त्र विरुद्ध

राग द्वेष एवं अज्ञान का जिसने सर्वथा नाश किया है, उनको सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं एवं सर्व का हित करनेवाले उनके वचन को **'शास्त्र'** या **'सूत्र'** कहते हैं । सूत्र विरुद्ध बोलना या आचरण करना **उत्सूत्र** कहलाता है ।

सूत्र में जिस पदार्थ का जिस तरीके से निरूपण किया हो, उससे विपरीत रूप से निरूपण करना या शास्त्र विरुद्ध बोलना उत्सूत्र भाषण कहलाता है । उत्सूत्र भाषण अनंत संसार की वृद्धि का कारण बन सकता है ।

जैन दर्शन किसी भी पदार्थ को एक दृष्टिकोण से नहीं, परन्तु अनेक दृष्टिकोण से देखता है, इसलिए जैन दर्शन - जैन शास्त्र अनेकान्तात्मक कहलाते हैं । इस कारण से किसी भी सूत्र या उसके किसी एक पद का अर्थ करते हुए उसके तात्पर्य का विचार करना चाहिए, पूर्वापर का संदर्भ देखना चाहिए एवं उसे जानकर यह पद किस दृष्टिकोण से (किस नय से) कहा गया है, उसका निर्णय करना चाहिए । इस तरीके से निर्णय कर अर्थ किया जाए, तो ही प्रत्येक सूत्र को सम्यक् प्रकार

5. **ऊर्ध्वं सूत्रादुत्सूत्रः सूत्रानुक्तः इत्यर्थः** - सूत्र की मर्यादा से अतिरिक्त या सूत्र में नहीं कही हुई बात कहना, उत्सूत्र है । - आवश्यक निर्युक्ति

सूत्र में पदार्थ का जिस तरह से वर्णन किया हो, उसके विपरीत तरीके से उस पदार्थ को कहना, उत्सूत्र कहलाता है । शास्त्र में कहा है कि, आलू आदि कंदों में अनंत जीव हैं । इस बात पर श्रद्धा न करते हुए अगर कोई कहे कि, 'अगर आलू आदि में अनंत जीव हैं, तो क्यों दिखाई नहीं देते ? इसलिए आलू में अनंत जीव नहीं हैं । ऐसा कहना वैसे ही है जैसे कोई ये कहे कि स्वर्ग या नर्क किसने देखे हैं ? अगर स्वर्ग है, तो वहां से कोइ क्यों आता नहीं ? ऐसे बोल उत्सूत्र भाषण है । ऐसा उत्सूत्र भाषण अनंत संसार का कारण बन सकता है ।'

से जाना जा सकता है । इसके विपरीत पूर्वापर सन्दर्भ का विचार किए बिना, जिस दृष्टि से सूत्र का कथन किया गया हो, उससे भिन्न दृष्टि से उसका अर्थ किया जाए तो उत्सूत्र प्ररूपणा का दोष लगता है, जैसे कि, 'अहिंसा ही परम धर्म है' ऐसा कहना एक दृष्टि से सत्य होते हुए भी, एकांत से ऐसा कहने में उत्सूत्र भाषण का दोष लगता है; क्योंकि जैन दर्शन मात्र अहिंसा को ही धर्म मानता है, ऐसा नहीं है, परन्तु सत्य आदि को भी धर्म मानता है, वैसे ही मात्र सत्य वगैरह में ही धर्म है, ऐसा भी नहीं मानता, परन्तु आज्ञा सापेक्ष अहिंसादि में धर्म मानता है, इसलिए शास्त्र में **'आणाए धम्मो' 'धम्मो आणाए पडिबद्धो'** ऐसा विधान किया गया है । इसी कारण जिनवचनानुसार लाभालाभ का विचार करके पृथ्वी, पानी आदि जीवों की हिंसा का जिन्होंने सर्वथा त्याग किया है ऐसे श्रमणों को भी रागादि की वृद्धिरूप भाव हिंसा से बचने के लिए एक गाँव से दूसरे गाँव विहार करते समय नदी पार करना आदि भी छूट दी है एवं आरंभ-समारंभ युक्त श्रावकों को आरंभ-समारंभ के मूल कारणरूप संसार के राग को तुडवाने और वीतराग परमात्मा तथा उनके संयमादि गुणों के प्रति राग उत्पन्न करने के लिए प्रभु की पुष्प, जल आदि से पूजा करने का विधान किया है । इसलिए हिंसा-अहिंसा के प्रकारों को जाने बिना, किस संदर्भ से उनकी हेयता एवं उपादेयता है यह समझे बिना, एकांत से हिंसा पाप ही है एवं अहिंसा ही परम धर्म है ऐसा कहना, उत्सूत्र प्ररूपणा है ।

संदर्भ के विचार बिना कथन करना भी कभी उत्सूत्र बन सकता है । जैसे कि, सावद्याचार्य के जीवन में एक प्रसंग बना । अनायास एक स्त्री ने उनके चरण स्पर्श किए । सावद्याचार्य उसको अधर्म मानते थे, परन्तु जब उनके प्रति ईर्ष्या एवं द्वेष रखनेवाले अनेक व्यक्तियों ने पूछा कि, 'भगवंत ! साधु को स्त्री का स्पर्श कल्पता है ?' तब शास्त्र के परमार्थ को समझते हुए भी खुब विचारणा करने के बाद मान-कषाय के अधीन बने सावद्याचार्य बोले, "जैन धर्म में कहीं भी एकांत नहीं, सर्वत्र अनेकांत है[6]" उनके ऐसे वचन सामान्य से सत्य होते हुए भी, इस प्रसंग पर तो असत्य स्वरूप ही थे, क्योंकि साधु को स्त्री का स्पर्श मात्र

6. सावद्याचार्य के दृष्टांत एवं उसकी विशेष जानकारी के लिए देखिए प्रतिमाशतक गा. नं. ४६ ।

भी त्याज्य माना है । अनायास ही यदि स्त्री का स्पर्श हो जाए तो भी दोष लगता है, उसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है । इसलिए अनायास से भी हुआ स्त्री का स्पर्श योग्य नहीं है, ऐसा कहना चाहिए । उसके बदले अपने बचाव के कारण बोले हुए ये वचन उत्सूत्र थे एवं इस एक वचन के कारण उन्होंने अत्यंत परिमित किए हुए अपने संसार को दीर्घकालीन बना दिया था ।

भरत महाराज के पुत्र मरीचि ने संयम जीवन अपनाया था । संयम जीवन के कष्टों को सहन करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है, ऐसा जानकर उन्होंने संयम वेष छोड़ त्रिदंडी का वेष स्वीकार किया था । फ़िर भी उन्हें संयम के प्रति अनहद राग था। इसी कारण से वे उनके पास आनेवाले जिज्ञासु व्यक्तियों को संयमजीवन की सुंदरता समझाकर एवं संसार से विरक्त करके ऋषभदेव प्रभु के पास दीक्षा लेने भेजते थे ।

एक बार वे बीमार पड़े तब उनकी सेवा करने के लिए उनके पास कोई नहीं था । संयोगवश ऐसे समय कपिल नाम का एक राजकुमार उनकी देशना सुनने आया । देशना सुनकर उसे संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ एवं वह संयम जीवन स्वीकारने के लिए तत्पर बना । हमेशा की तरह मरीचि ने उसे प्रभु के पास दीक्षा लेने को कहा, परन्तु कपिल को तो मरीचि के पास ही दीक्षा लेनी थी । इसलिए उसने मरीचि से मार्मिक प्रश्न पूछा, "भगवंत धर्म कहाँ ?" बीमारी के कारण परिचारक की इच्छा से मरीचि यहाँ चूक गए और जवाब दिया कि 'कपिला, इत्थंपि, इहयंपि ।' -"मैं जिस संयम जीवन का वर्णन करता हूँ उसका ही पालन ऋषभदेव प्रभु के श्रमण भगवंत करते हैं, वह संयम जीवन भी धर्म है एवं यहाँ मैं जो पालता हूँ वह भी धर्म ही है ।"

सामान्य से यह बात सच है, क्योंकि धर्म तो दोनों जगह है, परन्तु कपिल का प्रश्न था, आत्म हितकर श्रेष्ठ धर्म कहाँ है ? उसके संदर्भ में 'श्रमण धर्म ही श्रेष्ठ है' ऐसा कहने के बदले 'वहाँ भी धर्म है एवं यहाँ भी धर्म है' ऐसा कहना वह संदर्भ से शास्त्रानुसार नहीं होने के कारण उत्सूत्ररूप ही था । परिणामतः मरीचि का असंख्यात भव संसार बढ़ गया ।

इस प्रकार मोह-ममत्व या कषाय के अधीन होकर अनेक प्रकार से उत्सूत्र भाषण होने की संभावना है । बहुत बार ऐसा भी कहा जाता है कि, क्या घर में रहकर धर्म नहीं होता ? आज साधु बनने में क्या है ? एसी बातें भी उत्सूत्ररूप बनती हैं, एवं इस प्रकार का उत्सूत्र अनंत संसार का कारण भी बन सकता है । इसीलिए आनंदघनजी महाराज ने अनंतनाथ भगवान की स्तवना में कहा है कि, *'पाप नहीं कोई उत्सूत्र भाषण जिस्यो'* उत्सूत्र भाषण जितना इस दुनिया में दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ कथित शास्त्रों के एक एक वचन में अनंत जीवों को तारने की शक्ति है । उनके प्रत्येक पद में अनंत जीवों का हित-श्रेय समाया है । ऐसे शास्त्र के वचन का अपलाप करना, खुद को न जँचे ऐसे शास्त्र वचनों की उपेक्षा करना, 'आगम सर्वज्ञ कथित नहीं है' ऐसा कहकर शास्त्र के प्रति अश्रद्धा करना वगैरह उत्सूत्र प्ररूपणारूप है ।

प्ररूपणा के विषय में जैसे सूत्र विरुद्ध प्ररूपणा करना उत्सूत्र कहलाता है, वैसे ही क्रिया के विषय में भी सूत्रानुसार क्रिया न की हो तो अपेक्षा से उसे भी उत्सूत्र क्रिया कह सकते हैं । ऐसी उत्सूत्र क्रिया आत्महित में अवश्य बाधक बन सकती है ।

धर्मानुष्ठान रूप कोई भी क्रिया शास्त्र में जिस विधि से, जो लक्ष्य रखकर और जयणापूर्वक करने को कहा हो, उसे उस विधिपूर्वक की जाए तो ही वह क्रिया शास्त्रानुसारी क्रिया कहलाती है एवं विशेष कारण से औत्सर्गिक क्रिया का आदर एवं बहुमान रखकर, अपवाद मार्ग से गीतार्थ गुरु भगवंत की आज्ञा के मुताबिक किया हो, तो वह भी शास्त्रानुसारी है; परन्तु स्वेच्छा से किसी विशेष कारण के बिना किसी भी समय पर मनचाहे तरीके से क्रिया की जाए, तो वह क्रिया शास्त्रानुसारी नहीं कहलाती ।

ऐसा उत्सूत्र कथन या क्रिया अनंत संसार का कारण भी बन सकते हैं। इसीलिए, इस सूत्र द्वारा अनुपयोग से या अनाभोग से अपने जीवन में उत्सूत्र भाषण कभी हो गया हो, तो उसके प्रति अन्तःकरण से घृणा व्यक्त कर, जुगुप्सा के परिणामपूर्वक गुरु भगवंत समक्ष प्रतिक्रमण के पूर्व एवं प्रतिक्रमण के दौरान आलोचना एवं प्रायश्चित्त करना चाहिए ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है कि,

"उत्सूत्रभाषण महापाप है, अनंत संसार का कारण है । ऐसा जानते हुए भी उपयोग न रखने के कारण आज मुझसे सूत्र के विरुद्ध बोला गया है और सूत्र के विरुद्ध वर्तन भी हो गया है । भगवन् ! यह मैंने बहुत बुरा किया है । अपने इस पाप के लिए मैं अंतःकरण से क्षमा चाहता हूँ ।"

उम्मग्गो - मार्ग से विरुद्ध आचरण उन्मार्ग है ।

सामान्यतया, सूत्र विरुद्ध क्रिया को उन्मार्ग[7] क्रिया कहते हैं एवं विशेष तौर से देखा जाए तो औदयिक[8] भाव उन्मार्ग है । कर्म के उदय से प्राप्त हुए अच्छे

---

7. **मार्गः क्षायोपशमिक भावः, ऊर्ध्वभावात् उन्मार्गः, क्षायोपशमिकभावेनौदयिकभावसङ्क्रम इत्यर्थः ।**
- आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रिय टीका

8. शास्त्र में जीव को प्राप्त होनेवाले भाव पांच प्रकार के बताये हैं : १-क्षायिक, २-औपशमिक, ३-क्षायोपशमिक, ४-औदयिक, ५-पारिणामिक

१ - क्षायिक भाव : कर्मों के सर्वथा क्षय से प्रकट होनेवाले भावों को क्षायिक भाव कहते हैं । जैसे जल में से कचरा निकलने पर जल निर्मल बनता है, वैसे आत्मा में रहे हुए कर्मों का सर्वथा क्षय होने पर आत्मा निर्मल बनती है एवं अनंत ज्ञानादि गुणसंपत्ति प्रकट होती है ।

२ - औपशमिक भाव : शुभ अध्यवसाय द्वारा आत्मा में विद्यमान कर्मों को उदय में न आने देना उपशम भाव है । जैसे जल में कतक चूर्ण डालने पर कचरा नीचे बैठ जाता है, वैसे ही कर्मों के उपशम होने पर थोड़े समय के लिए आत्मा जिस निर्मल भाववाली बनती है, उसे औपशमिक भाव कहते हैं ।

३ - औदयिक भाव : कर्म के उदय से प्राप्त क्रोध, मान, माया, लोभ या राग, द्वेष आदि के परिणाम तथा मनुष्यादि गति, एकेन्द्रियादि जाति, रूपवान् या रूपहीन शरीर, समृद्धि या निर्धनता, प्राप्त हुए अच्छे-बुरे निमित्त वगैरह औदयिक भाव हैं ।

४ - क्षायोपशमिक भाव : उदय में आए हुए कर्मों का फल बताए बिना क्षय करना एवं उदय में नहीं आए हुए कर्मों का उपशम करना क्षयोपशम भाव है । जैसे किसी वस्तु या व्यक्ति के सामने आने पर उसमें राग-द्वेषादि होने की संभावना होती है, परन्तु उस वस्तु या व्यक्ति के वास्तविकता का विचार कर उसमें रागादि भावों को न उठने देना अथवा रोकना क्षायोपशमिक भाव है । कर्मों के क्षयोपशम से ही विनय, विवेक, सत्श्रद्धा, सज्ज्ञान, सच्चारित्र आदि गुणों का विकास होता है ।

५ - पारिणामिक भाव : भिन्न भिन्न अवस्थारूप में परिणाम पानेवाले भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं, - भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व वगैरह ।

- बुरे भावों में या सबल-निर्बल निमित्तों में राग-द्वेष करना या क्रोधादि कषाय के अधीन होना उन्मार्ग है । इस उन्मार्ग से बचने के लिए साधक को सोचना चाहिए कि - "कर्म के उदय से प्राप्त हुए भाव आगंतुक (बाह्य या पराए) हैं । कर्म पूर्ण होने पर ये भाव चले जाते हैं। कर्म के उदय से जो निमित्त मिले हैं, वे मेरे ही पूर्वकृत कर्मों के फल हैं, मेरी ही भूल का यह परिणाम हैं । मेरी ही भूल से उत्पन्न इस परिस्थिति में घृणा या आकुलता न करते हुए क्षमा रखना मेरा कर्तव्य है । मेरे लिए राग, द्वेष के अधीन न होते हुए मध्यस्थ रहना उचित है ।" इस प्रकार विचार कर अच्छे या बुरे निमित्तों के प्रति उदासीन रहने का भाव रखने का जो प्रयत्न है, वह मार्ग है । संक्षेप में **कर्म के उदय को निष्फल करने का जो प्रयत्न है, वह क्षायोपशमिक भावरूप मार्ग है एवं कर्म के उदय के अधीन होना उन्मार्ग है ।**

यह शब्द बोलते हुए दिन भर में कैसे कैसे निमित्त में किस किस प्रकार के कषाय किए, कर्म से प्राप्त हुई परिस्थिति में कहाँ मोह होने से व्यथित हुए, कहाँ आसक्ति की, इन सब विषयों को याद करके, पुनः ऐसा न करने का संकल्प करके दुःखार्द्र हृदय से गुरु भगवंत के समक्ष उसकी आलोचना करते सोचना चाहिए कि,

> "अहो ! उत्सूत्र प्ररूपणा और उन्मार्ग गमन दोनों क्रियाएँ मेरी आत्मा के लिए अति खतरनाक हैं । ऐसा जानते हुए भी प्रमादादि के वश होकर मुझ से महादुष्कृत्य हो गया है । हे कृपालु ! मेरे ये अक्षम्य दुष्कृत्यों की भी आप दयालु के पास मैं क्षमा चाहता हूँ ।"

अकप्पो अकरणिज्जो - आचार से विरुद्ध (एवं) न करने योग्य (ऐसा जो आचरण किया हो ।)

साधक जीवन में आहार, पानी, वस्त्र वगैरह जो जो वर्जित बताए गए हैं, वे अकल्प्य हैं एवं आचार की दृष्टि से जो करने जैसा न हो वह अकरणीय है,

कल्प्य-अकल्प्य का विभाग ग्रहण करनेवाली वस्तु के विषय में होता है एवं कर्तव्य-अकर्तव्यों का विभाग आचरण के विषय में होता है । सामान्यतया सोचने से ऐसा लगता है; परन्तु आवश्यकनिर्युक्ति वगैरह में उसकी व्याख्या इस प्रकार की है : शास्त्र में जिसका निषेध किया गया है, वह अकल्प्य है एवं अकल्प्य करना अकरणीय है, कल्प अर्थात् विधि, आचार या चरण-करणरूप[9] व्यापार । उसके योग्य जो है वह कल्प्य एवं उसके जो योग्य न हो, वह अकल्प्य कहलाता है अर्थात् जो विधि से, आचार से या चारित्र एवं क्रिया के अनुरूप नियमों से विरुद्ध होता है, वह अकल्प्य है, वैसा करना अकरणीय है ।

शास्त्र में श्रावक को जिन पदार्थों को खाने, पीने, देखने, सुनने या उपभोग करने का निषेध किया गया हो वे सब श्रावक के लिए अकल्प्य हैं। जैसे साधु भगवंतों के लिए आधाकर्मी आहार अकल्प्य है, वैसे श्रावक के लिए कंदमूल, अनंतकाय आदि अभक्ष्य का भक्षण अकल्प्य है । अकल्प्य कार्य साधक के लिए अकरणीय हैं । ऐसा होते हुए भी कषायादि के अधीन होकर ऐसा कोई भी कार्य किया हो तो यह शब्द बोलते हुए उन कार्यों को स्मृति में लाकर उनका पुनरावर्तन न हो वैसा संकल्प करके गुरु भगवंत के समक्ष जो अकल्प्य ग्रहण हुआ हो या जो अकरणीय कार्य हुआ हो, उन दोनों का आलोचन करना होता है ।

'उस्सुत्तो' आदि पदों में भेद :

प.पू. हरिभद्रसूरिश्वरजी महाराज ने आवश्यक निर्युक्ति की टीका में बताया है कि **'उस्सुतो, उम्मग्गो, अकप्पो एवं अकरणिज्जो'** इन चार पदों के बीच क्रमिक कार्य-कारण[10] भाव सम्बन्ध है । सूत्र के विरुद्ध बोलने से या करने से उन्मार्ग का आचरण होता है । इस उन्मार्ग के आचरण से ही अकल्प्य ग्रहण होता है एवं अकल्प्य ग्रहण करने से ही अकरणीय आचरण होता है।

9. चरण-करणरूप व्यापार की विशेष समझ सूत्र संवेदना-४ वंदित्तु सूत्र की गाथा नं. ३२ में मिलेगी।

10. हेतुहेतुमद्भावश्चात्र, यत एवोत्सूत्रः अत एवोन्मार्ग इत्यादि - आवश्यक निर्युक्ति

भगवान ने जैसा कहा है, वैसा न करना सूत्र के विरुद्ध है, उसके कारण ही जीव ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्षमार्ग से दूर चला जाता है, जो उन्मार्ग स्वरूप है । उन्मार्ग के कारण ही जीव को अपनी भूमिका में त्याज्य ऐसे आहारादि ग्रहण करने का मन होता है । अकल्प्य ग्रहण करने से ही अकरणीय प्रवृत्ति होती है। इस तरह उत्सूत्र से उन्मार्ग एवं उन्मार्ग से अकल्प्य का ग्रहण एवं उसके बाद अकरणीय प्रवृत्ति होती है ।

जिज्ञासा : उत्सूत्र प्रवृत्ति ही उन्मार्ग बनती है एवं उन्मार्ग ही अकल्प्य एवं अकरणीय बनता है, तो यहाँ मात्र **'उस्सुतो'** इस एक ही शब्द का प्रयोग न करते हुए चारों शब्दों का अलग-अलग प्रयोग क्यों किया गया ?

तृप्ति : उत्सूत्र आदि चार पदों के बीच कार्य-कारण भाव सम्बन्ध होते हुए भी चारों शब्दों का अलग प्रयोग करने का कारण यह है कि, भले उत्सूत्र ही उन्मार्गादि स्वरूप बनता हो, फिर भी इन चारों के बीच अपेक्षा कृत भेद होता है। जैसे कि सूत्र के विरुद्ध बोलना उत्सूत्र है, औदयिक भाव में आकर प्रवृत्ति करना या मार्ग के विरुद्ध प्रवृत्ति करना उन्मार्ग है, साधु या श्रावक को जो कल्प्य नहीं वैसी चीजें लेना या उनका उपयोग करना अकल्प्य है, एवं साधु या श्रावक को जो करने योग्य नहीं वैसी प्रवृत्ति करना अकरणीय है, इस तरह चारों के बीच भेद भी है । इस भेद को बताने के लिए ये चारों पद अलग किए गये होंगे ऐसा लगता है अथवा उत्सूत्र ही उन्मार्गादि रूप बनता है, वैसा बताकर उत्सूत्र प्रवृत्ति कितनी भयंकर है, इसका ज्ञान कराने के लिए इन चार अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है । तो भी विशेषज्ञ इस विषय के प्रति विचार करें ।

एक[11] अपेक्षा से **'उस्सुतो' 'उम्मग्गो'** इन पदों द्वारा मुख्यतया वाचिक एवं **'अकप्पो' 'अकरणिज्जो'** इन पदों द्वारा कायिक अतिचार बताए गये हैं ।

अब 'दुज्झाओ' आदि दो पदों से मानसिक अतिचारों को बताते हुए कहते हैं-

दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ - दुष्ट ध्यान एवं दुष्ट चिंतन से जो अतिचार लगा हो ।

---

11. उक्तस्तावत्कायिको वाचिकश्च अधुना मानसमाह । - आवश्यक निर्युक्ति

साधना में सब से अधिक महत्त्व मनोयोग का है । मनोयोग यदि शुभ विषय में प्रवृत्त हो, तो उसके द्वारा साधक उत्तरोत्तर गुणों का विकास करता हुआ मोक्ष के नजदीक तक पहुँच सकता है एवं यदि मनोयोग अशुभ विषय में प्रवृत्त हो तो उसके द्वारा साधक सातवीं नरक तक भी जा सकता है । इसलिए जैसे कायिक एवं वाचिक अतिचारों की आलोचना की वैसे मनोयोग द्वारा मानसिक अतिचारों की भी आलोचना करनी है ।

अलग अलग तरीके से उपयोग किए हुए इस मनोयोग के शास्त्रकारों ने मुख्य दो विभाग किए गये हैं - १. ध्यान एवं २. चित्त । उसमें स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहते हैं एवं चल अध्यवसाय को चित्त कहते हैं । चित्त याने कि चल अध्यवसाय भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिंतन[12] स्वरूप होता है ।

किसी एक ही विषय में मन की एकाग्रता या मन का स्थिरीकरण **ध्यान** है । एक ही विषय को बार बार सोचकर उससे मन एवं आत्मा को भावित करने का प्रयत्न करना **भावना** है। किसी भी पदार्थ के विषय में खूब गंभीरता से विचार करना, खूब बारीकी से देखने का यत्न करना **अनुप्रेक्षा** है, एवं किसी भी विषय पर विविध प्रकार से विचार करना **चिंतन** है ।

शुभ स्थान में प्रवृत्त ध्यान या भावना आदि का समावेश शुभ ध्यान एवं शुभ चिंतन में किया गया है एवं अशुभ स्थान में प्रवृत्त ध्यान या भावना आदि का समावेश दुर्ध्यान एवं दुष्ट चिंतन में किया गया है ।

शास्त्र में दुर्ध्यान के दो प्रकार बताए गये हैं - १. आर्त्तध्यान[13] एवं २. रौद्रध्यान इन दोनों प्रकार के दुर्ध्यानों के पहले या बाद में उसी विषय में जो

12. दुल्ध्यानं - दुर्ध्यानं - आर्तरौद्रक्षणं एकाग्रचित्ततया । दुल्विचिन्तितो दुर्विचिन्तितः अशुभ एव चचित्ततया । - हारिभद्रीय आवश्यक निर्युक्ति

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं, जं चं तयं चित्तं । तं होज्ज भावणा वा, अणुप्पेहा वा अहव चिंता ।।२।। - ध्यान शतक

13A. **आर्त्तध्यान - दुःख** या पीडा के कारण होनेवाला ध्यान; उसके चार प्रकार हैं -

(i) **इष्ट संयोग -** इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए निरंतर क्रियाशील एकाग्र चिंतन या ध्यान ।

(ii) **अनिष्ट वियोग -** अनिष्ट वस्तु से दूर होने के लिए किया जानेवाला चिंतन या ध्यान ।

भावना, अनुप्रेक्षा या चिंतन होता है, उसका समावेश दुष्ट चिंतन में किया गया है ।

इष्ट व्यक्ति या वस्तु को पाने की इच्छा, अनिष्ट व्यक्ति या वस्तु से दूर भागने की इच्छा, मेरे शरीर में रोग न हो, रोग हो गया हो, तो उसे शीघ्र नाश करने की इच्छा या धर्म के बदले में सांसारिक सुख पाने की इच्छा वगैरह चित्त की चंचलता उत्पन्न करनेवाली सभी इच्छाएँ, भावना, अनुप्रेक्षा या चिंतन स्वरूप हों तो वह दुष्ट चिंतन कहलाता है एवं उसमें मन स्थिर हो जाए तो उसे दुष्ट ध्यान कहते हैं ।

जिसके जीवन में धर्म परिणत न हुआ हो ऐसे जीवों को निरंतर ऐसी इच्छाएँ होती रहती हैं । उनके मन में सतत ऐसे विकल्प उठते रहते हैं कि, 'मुझे मेरी प्रिय व्यक्ति, वस्तु या वातावरण कब मिलेंगे या ऐसी बाधाजनक अनिष्ट व्यक्ति, वस्तु या वातावरण में कब बदलाव आयेगा या वे कब दूर होंगे। गरमी कितनी अधिक है । बारिस कब आएगी एवं ठंडक कब होगी। आम कब मिलेंगे। डॉक्टर कब आयेंगे । मैं कब स्वस्थ होऊँगा...'

अनुकूलता का राग एवं प्रतिकूलता का द्वेषः इन दो कारणों से जीव का मन सतत इस प्रकार के विचारों से व्यग्र रहता है । ऐसे विचारों में एकाग्रता आने से ऐसे चिंतन में मन स्थिर होने पर वह दुष्ट चिंतन दुर्ध्यान अर्थात् आर्त्तध्यान बन जाता है ।

(iii) **रोगचिंता -** शरीर में रोग न होवे या हो गया हो तो सतत उसको दूर करने के लिए किया गया चिंतन या ध्यान ।

(iv) **निदान -** धर्म के बदले में सांसारिक सुख पाने की इच्छा का चिंतन या ध्यान ।

B. **रौद्रध्यान -** हिंसादि का क्रूरतावाला चिंतन या ध्यान उसके चार प्रकार हैं ।

(i) **हिंसानुबंधी -** अपने कार्य में विघ्न उत्पन्न करनेवाले अन्य को मारने, पीड़ा देने का चिंतन या ध्यान ।

(ii) **मृषानुबंधी** - अपना इष्ट साधने के लिए झूठ बोलना आदि के विचारों का ध्यान ।

(iii) **स्तेयानुबंधी** - चोरी संबंधी चिंतन या ध्यान ।

(iv) **संरक्षणानुबंधी** - संपत्ति आदि के संरक्षण की सतत चिंता या ध्यान ।

आर्त्त-रौद्र ध्यान विषयक विशेष जानकारी के लिए देखें सू.सं.भा. ४ आठवें व्रत की गाथा २५ वीं ।

यही इच्छाएँ जब बहुत प्रबल होती हैं, तब जीव विवेक चूक जाता है, उस समय उसमें अगर क्रूरता आ जाए तो उन इच्छाओं की तृप्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि के विचार भी चालू हो जाते हैं एवं मन जब ऐसे विचारों में एकाग्र बन जाता है, तब वे विचार रौद्रध्यान स्वरूप बन जाते हैं ।

आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान दोनों दुष्ट ध्यान हैं, पर आर्त्तध्यान से रौद्रध्यान अधिक दुष्ट हैं क्योंकि रौद्रध्यान में अपने सुख के लिए सामने वाले व्यक्ति का दुःख, पीडा यहाँ तक की, उसके मृत्यु की भी दरकार नहीं रहती । सामनेवाला व्यक्ति दुःखी हो या उसकी मृत्यु हो तो भले हो, मेरी इच्छा के मुताबिक होना चाहिए ऐसी क्रूर घातकी सोच रौद्रध्यान रूप बन जाती है । आर्त्तध्यान तिर्यंचगति का कारण बनता है, तो रौद्रध्यान नरकगति का कारण बनता है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए कि,

> *"महापुण्य के उदय से, बहुत समय बाद मोक्षमार्ग में उपकारक मनोयोग प्राप्त हुआ है । उसके द्वारा मोक्षमार्ग की आराधना करके मैं यहीं पर आत्मा का आनंद पा सकता हूँ । फिर भी मुझ जैसे मूर्ख ने इस महामूल्य मन से 'अपनी रुचि के अनुरुप' किस तरह भौतिक सुख प्राप्त कर सकूँ एवं किस प्रकार उसे संभाल कर रख सकूँ आदि के विषय में ही आर्त्त और रौद्रध्यान करके अपनी आत्मा को दुःखी किया है । यह मैंने गलत किया हे । भगवंत ! दुष्ट ध्यान एवं दुष्ट चिंतन से हुए मेरे इन पापों की मैं आलोचना करता हूँ, निंदा करता हूँ एवं पुनः ऐसे पाप न हों उसके लिए सावधान बनता हूँ ।"*

मन, वचन, काया से कौन से अतिचार हुए हैं उनका विचार करके उनके बारे में विशेष बताते हैं।

अणायारो अणिच्छिअव्वो असावग्गपाउग्गो - न आचरने योग्य, न इच्छा करने योग्य, श्रावक के लिए अयोग्य (अतिचार)

श्रावक के लिए जो आचरण योग्य न हो, उसे अनाचार कहते हैं । जिस कार्य को करने से जैन शासन की बदनामी हो, शासन की मलिनता हो, लोक दृष्टि

में जो खराब लगे, ऐसी चोरी, हिंसा, परस्त्रीगमन वगैरह प्रवृत्तियाँ अनाचाररूप कहलाती हैं; क्योंकि, ऐसी प्रवृत्तियाँ करते हुए श्रावक को देखकर लोग तुरंत कहते हैं "जैन होकर ऐसा करता है ? धर्म करनेवाले ऐसे होते हैं ?" इसलिए धर्मनिंदा के कारणरूप प्रवृत्ति श्रावक के लिए त्याज्य है । ऐसी प्रवृत्ति श्रावक के लिए अयोग्य कहलाती है । जो प्रवृत्ति श्रावक के लिए अयोग्य है, वह अनाचार होती है एवं इसलिए वह इच्छनीय भी नहीं होती।

इसके अलावा, उत्सूत्र, उन्मार्ग, अकल्प्य, अकरणीय, दुर्ध्यान एवं दुष्ट चिंतन : ये सब अतिचार श्रावक के लिए करने योग्य नहीं हैं, इसलिए वे अनाचाररूप हैं । इसीलिए ही वे किंचित् भी इच्छा करने योग्य नहीं हैं, श्रावक के लिए जरा भी उचित नहीं[14] हैं।

जैन कुल में जन्मे हुए, जैन संस्कार से वासित हुए साधक में सामान्यतः अनाचार आदि दोषों की संभावना नहीं रहती तो भी अनादिकाल के कुसंस्कारों, प्रबल निमित्तों या प्रमादादि दोषों के कारण शायद कभी ऐसा हुआ हो, तो भी उन पापों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप करके, जुगुप्सा का अनुभव करते हुए, ये शब्द बोलकर गुरु समक्ष आर्द्र हृदय से उसकी आलोचना करनी चाहिए । इस तरीके से आलोचना करने से जीवन में पुनः उन पापों की संभावना मंद हो जाती है ।

इस प्रकार मन, वचन, काया से किए हुए अतिचारों की आलोचना करने के बाद ज्ञानादि के विषय में हुए अतिचारकी आलोचना करते हुए बताते हैं -

नाणे दंसणे - ज्ञान के विषय में, दर्शन के विषय में (जो अतिचार लगे हों)

ज्ञान : जो वस्तु जैसी है वैसी जानना सम्यग्ज्ञान है । ऐसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सर्वज्ञ कथित शास्त्र के आधार पर ही होती है । अन्य ग्रथों द्वारा ज्ञान

---

14. यत एवाश्रमणप्रायोग्य अत एवानाचारः, आचरणीय आचारः, न आचारः अनाचारः साधूनामनाचरणीयः, यत एव साधूनामनाचरणीयः अत एवानेल्लव्यः मनागपि मनसाऽपि न प्रार्थनीय इति । - आवश्यक निर्युक्ति

मिलता है, परन्तु वह सम्यग्ज्ञान नहीं होता और उनके द्वारा वास्तविक सुख का मार्ग भी नहीं मिलता ।

सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने एवं प्राप्त हुए ज्ञान की वृद्धि करने के लिए 'नाणम्मि सूत्र' में उसके आठ आचार बताए गये हैं । इन आचारों का पालन न करना या उनसे विपरीत आचरण करना ज्ञानविषयक अतिचार है ।

तदुपरांत पाटी, पुस्तक, पेन, पुस्तकासन वगैरह ज्ञान प्राप्ति के साधन होने से उनका जैसे तैसे उपयोग करना, गलत जगह छोड़ना तथा शक्ति होते हुए पढना नहीं, पढ़ा हुआ भूलना, अशुद्ध पढ़ना, बुद्धि होते हुए भी उन उन शब्दों के अर्थ का गंभीर चिंतन नहीं करना' पढ़ने के बाद उस ज्ञान का जीवन में उपयोग नहीं करना वगैरह भी ज्ञान विषयक अतिचार हैं ।

दर्शन : सर्वज्ञ परमात्मा ने जो पदार्थ जैसा कहा है, वो वैसा ही है ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखकर तत्त्व को तत्त्वरूप एवं अतत्त्व को अतत्त्वरूप जानकर स्वीकार करना सम्यग्दर्शन है । यह गुण प्राप्त होने पर वास्तविकता का ख्याल आता है एवं उससे उपरी तौर से सुखमय लगनेवाला संसार भी परिणाम से दुःखरूप होने से दुःखमय लगता है । जहाँ जीना सदा ही और आवश्यकता का नाम मात्र नहीं, वैसे मोक्ष का सुख ही सुखरूप लगता है । इस सुख में सहायक होनेवाले सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म ही स्वीकार करने योग्य लगते हैं एवं आत्मा का अहित करनेवाले कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म छोड़ने जैसे लगते हैं ।

सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में प्राप्त हुआ ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है । सम्यग्दर्शन से युक्त चारित्र ही मोक्ष का कारण बनता है । इसीलिए मोक्षार्थी आत्मा को सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने, प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन को टिकाने एवं उसको ज्यादा निर्मल बनाने के लिए 'नाणम्मि सूत्र' में बताए हुए सम्यग्दर्शन के आठ आचारों का समुचित पालन करना चाहिए । इन आचारों का पालन न करना दर्शन विषयक आशातना है तथा वंदित्तु सूत्र की पाँचवीं गाथा में बताए हुए मिथ्यात्वी के स्थान में जाना-आना, खड़ा रहना वगैरह अतिचार तथा छठ्ठी

गाथा में दर्शित शंका, कांक्षा, वितिगिच्छा, कुलिंगियों की प्रशंसा एवं परिचय इन पाँचों अतिचारों = दोषों का आसेवन करना, वह सम्यग्दर्शन के विषय में अतिचार है ।

इसके उपरांत प्रभुप्रतिमा की, जिनमंदिर की, स्थापनाचार्य की या सम्यग्दृष्टि श्रावक-श्राविका की आशातना करना, देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य आदि की उपेक्षा करना, शक्ति होते हुए भी उनकी रक्षा का उपाय न करना, साधर्मिक की देखभाल न करना, ये सब दर्शनाचार के अतिचार हैं ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है कि,

"सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन पा सकें ऐसे सुंदर आचार परमात्मा ने बताए हैं, उनकी उपेक्षा कर मैंने ज्ञान-दर्शन विषयक अनेक अतिचार का सेवन करके अपने ज्ञान एवं दर्शन गुण को मलिन किया है । यह मैंने गलत किया है । भगवंत! इन सब दोषों की आलोचना करता हूँ और आत्मा को निर्मल बनाने के लिए ज्ञान एवं दर्शन विषयक आचारों में अधिक प्रयत्नशील बनता हूँ ।"

चरित्ताचरित्ते - चारित्र-अचारित्र में अर्थात् देशविरतिरूप चारित्र के विषय में,

देश चारित्र : तत्त्व की श्रद्धावाले श्रावक मन से तो संसार से विरक्त होते हैं और सर्व संयम की इच्छावाले भी होते है । फिर भी कर्म के अधीन वे पाप प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते । शक्ति के अनुसार वे स्थूल से पाप प्रवृत्तियों का त्याग करते हैं । जितने अंशों में वे पाप प्रवृत्तियों का त्याग नहीं कर सकते, उतने अंशों में उनकी अविरति कहलाती है । इसलिए उनका चारित्र चारित्र-अचारित्र अर्थात् देशचारित्र या देशविरति कहलाता है ।

श्रावक भले कितनी ही पाप प्रवृत्तिओं का त्याग करे, सामायिक करे, पौषध करे, चौदह नियम का संकल्प करे या बारह व्रत का स्वीकार करे, तो

भी उसका चारित्र सर्वविरति की अपेक्षा से एक अंशरूप होता है, इसलिए उसे देशविरति चारित्र ही कहते हैं । साधु की दया २० वसा की होती है, जब कि श्रावक की मात्र १ $\frac{१}{४}$(सवा) वसा होती है। देशविरति चारित्र को स्वीकार करनेवाले श्रावक को जयणाप्रधान जीवन जीना चाहिए; बोलते, चलते, खाते-पीते, कोई भी क्रिया करते समय अपने से निष्कारण हिंसा न हो जाए उसका सतत ख्याल रखना चाहिए । ऐसा ख्याल रखते हुए भी, कभी कभी उपयोग न होने से या प्रमादादि दोषों के कारण दिन के दौरान हुए कार्यों में जहाँ जहाँ जयणा का पालन न हुआ हो, अनावश्यक हिंसा से बचने के लिए प्रयत्न न किया हो या एक से बारह तक के जो व्रत जिस स्वरूप में स्वीकार किए हों, उन व्रतों में छोटे-बड़े जो भी कोई दोष लगे हों, वे सब देशविरति के विषय में अतिचार हैं ।

इस पद का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए कि,

“सर्वविरति स्वीकारने की तो मेरी शक्ति नहीं है । उस शक्ति के प्रादुर्भाव के लिए ही मैंने देशविरति का स्वीकार किया है । लेकिन प्रमाद आदि दोषों के कारण मैं उनका सूक्ष्मता से पालन नही कर पाया हूँ । ये मैंने बहुत गलत किया है । उनसे मैंने अपने चारित्र गुण को मलिन किया है । हे भगवंत ! चारित्र को मलिन करनेवाले सर्व अतिचारों की आप के समक्ष मैं आलोचना करता हूँ । ऐसे दोषों का पुनः सेवन न हो ऐसे संकल्पपूर्वक मैं उनकी निंदा-गर्हा करके उनकी शुद्धि के लिए यत्न करता हूं ।”

यहाँ इतना खास ध्यान में लेना है कि, इस ‘चरित्ताचरित्ते’ शब्द के स्थान पर महाव्रतधारी श्रमण भगवंत ‘चरित्ते’ शब्द बोलते हैं क्योंकि उन्होंने सर्व प्रकार की पापप्रवृत्ति के विरामरूप सर्वविरति का याने पूर्ण चारित्र धर्म का स्वीकार किया है ।

देशचारित्र के विषय में जो जो अतिचार लगे हों उनका विशेष वर्णन सूत्रकार आगे 'पंचण्हमणुव्वयाणं' आदि पदों द्वारा करेंगे । यहाँ तो **चरित्ताचरित्ते** शब्द से, संग्रह रूप से ही देशचारित्र के अतिचारों की आलोचना करनी है ।

इस तरीके से ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र विषयक लगे हुए अतिचारों की आलोचना की । अब उन रत्नत्रयी को भेद से अर्थात् अलग प्रकार से याद[15] करके उनके अतिचारों की आलोचना करते हैं ।

सुए सामाइए - श्रुत एवं सामायिक के विषय में

सुए - श्रुतज्ञान के विषय में ।

गुरु के समागम या शास्त्र अभ्यास से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । जैन शासन की अविच्छिन्न परंपरा चालू रखने में यह श्रुतज्ञान एक विशिष्ट साधन है । भगवान की अनुपस्थिति में भगवान द्वारा कहे गए एवं गणधरों द्वारा मूलरूप में गूँथे हुए इस श्रुत के सहारे आज भी अनेक जीव संसार सागर तैर रहे हैं । ऐसे श्रुतज्ञान के विषय में आगे बताई गई कोई आशातना[16] यदि हुई हो तो उसकी आलोचना इस 'सुए' शब्द द्वारा की जाती है।

यह 'सुए'[17] पद श्रुतज्ञान के लिए है, तो भी आवश्यक निर्युक्ति में बताया गया है कि उसके उपलक्षण से यहाँ मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञान का ग्रहण हो जाता है । मति ज्ञान आदि पाँच ज्ञान के विषय में अश्रद्धा, विपरीत प्ररूपणा आदि ज्ञान के विषय में अतिचार हैं ।

---

15. अधुना भेदेन व्याचष्टे- अब ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेद से मतलब विशेषता से उनके प्रभेद से जैसे कि ज्ञान संबंधी कथन हो गया अब श्रुतज्ञान कहते है । - आवश्यक निर्युक्ति

16. श्रुत विषयक आशातनाओं की समझ हों 'नाणे' पद की व्याख्या में तथा 'नाणम्मि' सूत्र में दी गई है।

17. 'सुए' त्ति श्रुतविषयः, श्रुतग्रहणं मत्यादिज्ञानोपलक्षणं, तत्र विपरीतप्ररूपणा, अकालस्वाध्यायादिरतिचारः । सामायिकग्रहणात् सम्यक्त्वसामायिकचारित्रः । - आवश्यक निर्युक्ति

सामाइए - सामायिक के विषय में

सामायिक शब्द से यहाँ सम्यक्त्व सामायिक एवं चारित्र सामायिक, दोनों को ग्रहण करना है । 'सुए' शब्द से सम्यग्ज्ञान एवं 'सामाइए' शब्द से सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र, इस तरह इन दो शब्दों द्वारा मोक्ष के कारण रूप रत्नत्रयी का ग्रहण हो जाता है, एवं उनके विषय में सेवन किए गए दोषों का आलोचन इस पद द्वारा किया जाता है । वे दोष किन प्रकार के होते हैं इसका वर्णन पूर्व में 'दंसणे' एवं 'चरित्ताचरित्ते' पदों में हो गया है ।

जिज्ञासा : श्रुतज्ञान एवं सामायिक ये दोनों "नाणे दंसणे चरित्ताचरित्ते" पद में समाविष्ट हो जाते हैं, फिर भी यहां उनको अलग से क्यों लिया ?

तृप्ति : 'नाणे' पद से पांचों ज्ञान एवं 'चरित्ताचरित्ते' पद से देशविरति धर्म भी समाविष्ट हो जाते थे फिर भी पाँचों ज्ञानों में श्रुतज्ञान का महत्त्व बताने एवं चारित्र में सामायिक का विशेष महत्त्व बताने के लिए उनको अलग से ग्रहण किया होगा ऐसा लगता है । फिर भी इस विषय में विशेषज्ञ का विमर्श स्वागत योग्य है ।

अब विशेषरूप से-भिन्न भिन्न प्रकार से - चारित्र विषयक अतिचार बताते हैं-

तिण्हं गुत्तीणं - तीन गुप्ति[18] की (जो कोई खंडना या विराधना हुई हो उसका 'मिच्छा मि दुक्कडं') ।

आत्म-अहितकर प्रवृत्ति से निवृत्त होना एवं आत्म हितकर प्रवृत्ति में जुडना व्यवहार से चारित्र है एवं निश्चय नय से स्वभाव में स्थिरता या आत्मा में रमणता चारित्र है, ऐसे चारित्र का यथायोग्य पालन करने के लिए मुनि भगवंतों को सदा एवं श्रावकों को सामायिक, पौषध के समय, मन-वचन-काया के गोपन रूप गुप्ति में रहना चाहिए, आवश्यकता बिना हाथ-पैर का हलन-चलन, वाणी का व्यवहार या मन में विचार भी नहीं करना चाहिए ।

18. तीन गुप्ति, पांच समिति, पांच महाव्रत आदि का विशेष वर्णन सूत्र संवेदना भाग-१ सूत्र-२ में देखें ।

आवश्यकता होने पर साधना के एक अंगरूप समिति के पालनपूर्वक मन-वचन-काया का प्रवर्तन करना चाहिए ।

ऐसा होते हुए भी अनादिकाल के कुसंस्कारों के कारण, निमित्त मिलने पर मन एवं इन्द्रियां कईबार चंचल बन जाती हैं, साधना जीवन में बाधक बने ऐसे विचार आ जाते हैं, जैसे कि, आवाज आते ही विचार आता है कि 'कौन आया है ? क्या कह रहा है ? किसकी बात कर रहा है ?' ऐसे निरर्थक विचार एकाग्र मन से हो रही आत्मसाधक क्रिया में बाधक बनते हैं। इसलिए ऐसे अनावश्यक मनोव्यापार मनोगुप्ति में अतिचार रूप बनते हैं ।

इसी तरह बातों के रस के कारण अनावश्यक बोलना, जरूरी भी सामायिक के उपयोग के बिना बोलना, मुँह पर मुहपत्ती रखे बिना बोलना वगैरह वचन गुप्ति के अतिचार रूप हैं ।

इसके अतिरिक्त, मोक्ष की साधना करनेवाले साधक को अपने शरीर को संकुचित रखना चाहिए । आवश्यकता के बिना हाथ-पैर तो क्या आँख की पुतली भी न फिरे उसका ध्यान रखना चाहिए । ऐसा होते हुए भी काया की कुटिलता एवं इन्द्रियों की चंचलता के कारण भगवान की आज्ञा का विचार किए बिना अनावश्यक, जैसे-तैसे काया का प्रवर्तन करना कायगुप्ति एवं इर्यासमिति आदि में अतिचार रूप है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

> *"तीन गुप्ति का आसेवन संवर भाव का अनन्य कारण है" ऐसा जानते हुए भी मुझ से बहुतबार समिति और गुप्ति का खंडन हुआ है । जिससे कर्म बांधकर मैंने भवभ्रमण बढ़ाया है ।*
>
> *हे भगवंत ! इन सब अपराधों को स्मृति में लाकर, पुनः ऐसी गलतियाँ न हों ऐसे संकल्पपूर्वक मैं आलोचना-निंदा-गर्हा करता हूँ एवं उन पाप संबंधी 'मिच्छा मि दुक्कडं' देता हूँ ।*

चउण्हं-कसायाणं - चार कषायों का, (जो कोई खंडन या विराधन हुआ हो उसका मिच्छा मि दुक्कडं ?।

क्रोध, मान, माया एवं लोभ : ये चार कषाय कर्म के उदय से होनेवाले आत्मा के विकार हैं । ये क्षमा, नम्रता, सरलता एवं संतोष आदि आत्मिक गुणों का नाश करते हैं एवं असहिष्णुता, अहंकार, कपट, असंतोष आदि दोषों को प्रकट कर आत्मा को दुःखी करते हैं । इसलिए आत्मिक सुख पाने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक साधक को कषाय का शमन एवं अंत में कषायों का संपूर्ण नाश करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए । उसके लिए योगशास्त्र आदि ग्रंथों का सहारा लेकर शुभ भावनाओं से हृदय को भावित करना चाहिए, जिससे निमित्त मिलने पर भी कषाय चित्त पर अपना वर्चस्व जमाकर आत्मा का अहित न कर सके ।

कषायों का नाश करने का प्रयत्न होने पर भी साधक अवस्था में निमित्त मिलने पर कभी कषाय उठते रहते हैं एवं साधक से स्वीकार किए गए व्रत-नियम आदि की मर्यादा तुड़वाते हैं ।

इस प्रकार कषायों के कारण व्रतादि का खंडन होता है, फिर भी इस पद द्वारा कषायों से होनेवाले व्रतादि के खंडन का 'मिच्छा मि दुक्कडं' नहीं देना है। परन्तु कषायों के खंडन के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना है । अब प्रश्न होता है कि, **कषायों का खंडन और कषायों की विराधना किस तरीके से होती हैं ?** इसका स्पष्टीकरण आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका, योगशास्त्र, धर्मसंग्रह आदि ग्रंथों में किया गया है । उनमें धर्म संग्रह के कर्ता प.पू.मानविजयजी महाराज ने बताया है कि प्रतिषिद्ध कषाय का करण, करने योग्य कषाय का अकरण, कषाय के स्वरूप के प्रति अश्रद्धा एवं उसके संबंधी विपरीत प्ररूपणा; ये सब कषायों के खंडन स्वरूप हैं, इसलिए अकरणीय हैं ।

जैसे कि, साधु साध्वीजी भगवंत को भी शिष्य की सारणा-वारणा आदि करने के अवसर पर कभी क्रोध करना पडे अथवा निमित्ताधीन बनकर उनमें भी जब क्रोधादि कषाय हो जाए तब भी खास खयाल रखना चाहिए कि, अपनी भूमिका में मात्र संज्वलन कषाय ही क्षंतव्य कहलाते है । यदि इस मर्यादा का कभी भंग हो जाए और कषाय की तीव्रता बढ़ जाए और वह कषाय

प्रत्याख्यानीय, अप्रत्याख्यानीय या अनंतानुबंधी स्तर का बन जाए तो **वे प्रतिषिद्ध कषाय के करण स्वरूप कषाय का खंडन कहलाता है ।**

उसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओं को भी ध्यान रखना चाहिए कि, करना पड़े एवं कषाय करे या निमित्त मिलने पर कषाय हो जाए, तो उनकी भूमिका के मुताबिक प्रत्याख्यानीय या अप्रत्याख्यानीय कषाय ही क्षंतव्य है । उनसे नीचे स्तर पर रहे अनंतानुबंधी कषाय अगर हो जाए, तो वे भी न करने योग्य कषाय होने के कारण, **प्रतिषिद्ध करण स्वरूप कषायों का खंडन है ।**

जैसे कांटा कांटें से ही निकल सकता है, वैसे अमुक भूमिका में कषायों के नाश के लिए कषायों का ही सहारा लेना पड़ता है । ऐसे कषायों को करने योग्य कषाय अथवा प्रशस्त कषाय कहते हैं । शास्त्रकारों ने अमुक भूमिका में तो ऐसे कषाय करने का विधान किया है । जैसे कि, संसार, संसार की सामग्री एवं संसार के संबंधों के राग को तोड़ने के लिए श्रावक-श्राविकाओं को देव-गुरु-धर्म की सामग्री के प्रति राग करना योग्य है, साधु साध्वीजी भगवंत को भी अतत्त्व के प्रति राग को निकालने के लिए तत्त्व के प्रति राग तथा रुचि बढ़ानी चाहिए एवं अतत्त्व के प्रति अरुचि-घृणा उत्पन्न करनी चाहिए । इस प्रकार भूमिका के अनुसार प्रशस्त राग-द्वेष न करना, **वह करने योग्य कषाय न करना स्वरूप कषायों का खंडन है ।**

कषाय हेय हैं, आत्मा के लिए अहितकारी है ऐसा शास्त्रकार कहते हैं, तो भी कषायों को वैसा न मानना, सारी दुनिया कषायों से ही चलती है, कषायों की सफलता में ही आनंद है, उनकी ही वृद्धि के लिए दुनिया मेहनत करती है, इसलिए कषाय कभी छोड़ने जैसे नहीं हैं - ऐसा मानकर भगवान ने कषायों को जैसा कहा है वैसा न मानना **कषायों के प्रति अश्रद्धा स्वरूप कषायों का खंडन है ।**

सोचे बिना बात बात में यह कहना कि, 'संसार में रहना हो तो राग तो करना पड़ता है, नहीं तो संसार में क्या आनंद है ? सब को अकुंश में रखना हो तो क्रोध तो करना ही पड़ता है, दुनिया में होशियार कहलाना हो तो चालाकी से

माया तो करनी ही पड़ती है, दुनिया में सर्वत्र पैसे का जोर चलता है । इसलिए ज्यादा से ज्यादा धन होना जरूरी है, मान नहीं होना चाहिए परन्तु स्वाभिमान होना तो जरूरी है,' ऐसी बातें करना या किसी को ऐसा समझाना **कषाय संबंधी विपरीत प्ररूपणा है,** ऐसी विपरीत प्ररूपणा भी **कषायों का खंडन है ।**

इस पद का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है,

"कषाय हेय हैं, अनर्थकारी हैं, इसलिए मुझे उनका त्याग करना चाहिए या सर्वथा उनका त्याग न हो सके तब तक मुझे उन्हें देव-गुरु और धर्मादि अच्छे स्थान पर लगाकर उनको मंद, मंदतर कक्षा के बनाने का प्रयत्न करना चाहिए; लेकिन मैंने इन कषायों को सांसारिक भावों में जोड़कर उनको बढ़ाया है ।

भगवंत ! यह मैंने बहुत गलत किया है । उसकी आलोचना निंदा एवं गर्हा करता हूँ । एवं पुनः ऐसा न हो वैसा संकल्प करके मिच्छा मि दुक्कडं' देता हूँ ।"

पंचण्हमणुव्वयाणं[19] - पांच अणुव्रतों का (जो कोई खंडन या विराधन हुआ हो उसका मिच्छा मि दुक्कडं) ।

स्थूल से (१) हिंसा विरमण, (२) झूठ विरमण, (३) चोरी विरमण, (४) स्वदारा संतोष एवं मैथुन विरमण तथा (५) परिग्रह के परिमाण का नियम करना - ये पाँच अणुव्रत हैं ।

19.पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों एवं उनके अतिचारों का विस्तार से वर्णन वंदित्तु सूत्र में आगे किया गया है । उनको जानने की इच्छावाले (सूत्र सं.भा. ४) में देख ले विस्तार के भय से यहां उसे नहीं लिया गया है ।

साधु-साध्वीजी भगवंतों के लिए यहां से यह सूत्र अलग पड़ता है उसमें 'पंचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीवनिकायाणं, सत्तण्हं पिण्डेसणाणं, अट्ठण्हं पवयणमाउणं, नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, दसविहे समणधम्मे, समणाणं जोगाणं' ऐसा पाठ है । पांच महाव्रत, छ जीव निकाय सात प्रकार के अन्न-पानी की एषणा, आठ प्रवचन माता, नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति एवं दस प्रकार के श्रमण धर्म में जो कोई खंडन-विराधन हुआ हो उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' इन शब्दों द्वारा दिया जाता है ।

बडी हिंसा न करना, बड़ा झूठ न बोलना आदि नियम लेकर, जयणापूर्वक उस नियम का पालन करना चाहिए । तभी नियम का यथायोग्य पालन हो सकता है, लेकिन उस तरह नहीं जीने से बहुत बार बड़ी हिंसा आदि हो जाती हैं, वे इन व्रतों के अतिचार हैं । इन व्रतों में लगे अतिचारों को याद करके उनकी आलोचना आदि करके उनकी शुद्धि के लिए यत्न करना चाहिए ।

तिण्हं गुणव्वयाणं - तीन प्रकार के गुणव्रतों का (जो कोई खंडन या विराधन हुआ हो उनका मिच्छा मि दुक्कडं)

अणुव्रतों की पुष्टि करनेवाले व्रत गुणव्रत कहलाते हैं । १. दिशा का परिमाण करना अर्थात् हर एक दिशा में जाने-आने की सीमा निर्धारित करना। २. भोग-उपभोग की सामग्री में नियमन करना । ३. अनर्थ दंड का त्याग करना अर्थात् जिससे आत्मा निष्कारण दंडित हो ऐसी क्रिया का त्याग करना : ये तीन गुणव्रत हैं ।

दिशा परिमाण आदि व्रत लेकर हमेशा और हरपल उन्हें याद रखना चाहिए। ऐसा नहीं होने के कारण कईबार दिशा में वृद्धि, व्रत में त्याग की हुई चीजों का भोग-उपभोग एवं न करने योग्य अनर्थकारी कार्य हो जाते हैं । व्रत विषयक यह अतिचार है ।

चउण्हं सिक्खावयाणं - चार प्रकार के शिक्षाव्रत का (जो कोई खंडन या विराधन हुआ हो उसका मिच्छा मि दुक्कडं)

संयम जीवन का शिक्षण-शिक्षा जिससे प्राप्त हो, उसे शिक्षाव्रत कहते हैं। सर्वविरति का इच्छुक श्रावक अपनी अनुकूलता के मुताबिक १. सामायिक, २. देशावगासिक, ३. पौषधोपवास, ४. अतिथि संविभाग : इन चार व्रतों को ग्रहण करता है ।

शक्ति होते हुए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों को स्वीकार नहीं किया हो, स्वीकार कर उनका यथायोग्य पालन नहीं किया हो, वैसे ही उनका स्मरण भी न किया हो, तो वह सर्व व्रत विषयक अतिचार है ।

इन व्रतों को स्वीकार करके उनके सुविशुद्ध पालन के लिए समिति एवं गुप्ति में रहना चाहिए । प्रमाद आदि दोषों के कारण उनका खंडन होने से शिक्षाव्रत दूषित होता है और उस से कर्मबंध होता है और दुःख की परंपरा बढ़ती है । यह पद बोलते हुए इन सब दोषों को याद करके, दुखार्द्र हृदय से उनकी आलोचना आदि करनी चाहिए, एवं पुनः ऐसा न हो वैसे संकल्प के साथ उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना चाहिए ।

बारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं[20] - बारह प्रकार के श्रावक धर्म का जो खंडन या विराधन किया है उनका (हे भगवंत !) मैं 'मिच्छा मि दुक्कडं' देता हूँ ।

ग्रहण किए व्रत, नियम या प्रतिज्ञा का आंशिक भंग **खंडना** है, एवं सर्वथा भंग **विराधना**[21] है जैसे कि, सामायिक व्रत का स्वीकार करके श्रावक को स्वाध्यायादि में ही रत रहना चाहिए, स्वाध्याय में लीन श्रावक को भी अनाभोग या सहसात्कार से संसार की किसी क्रिया का स्मरण हो जाए अथवा अनावश्यक बातचीत में मन चला जाए जिससे समभाव की वृद्धि के लिए की हुई सामायिक में स्खलना हो या उसमें दोष लग जाए, तो वह व्रत के खंडनरूप हैं ।

'मैं सामायिक में हूँ' 'निरर्थक बातें करने से मेरी प्रतिज्ञा भंग होती है ।' - ऐसा जानते हुए भी मजे से विकथा में जुड़ना या पानी, अग्नि, वायु आदि की विराधना हो वैसी प्रवृत्ति करना **विराधना** है ।

संक्षेप में अनाभोग या सहसात्कार से सावद्य का स्मरण या उसमें प्रवर्तन **खंडन** है, एवं जिसमें जानबूझ कर व्रत की उपेक्षा करके अनुचित वर्तन किया गया हो वह **विराधना** है, एवं प्रतिज्ञा का पूर्ण भंग हो, वैसी प्रवृत्ति करना **व्रतभंग** है ।

20. 'मिच्छा मि दुक्कडं' का विशेष अर्थ 'सूत्र संवेदना' भा. १ में से सूत्र नं. ५ में देखें ।

21. यत्खण्डितं देशतो भग्नं विराधितं सुतरां भग्नं न पुनरभावमापादितम् ।

- आवश्यक निर्युक्ति

किसी भी व्रत में अनाभोग से या प्रमादादि दोष के कारण जो खंडना-विराधना हुई हो उनका इस तरीके से आलोचना एवं प्रतिक्रमण द्वारा **'मिच्छा मि दुक्कडं'** देना चाहिए, एवं जो व्रत भंग हुआ है, उसका प्रायश्चित्त विशेष प्रकार से गुरु भगवंत के पास करना चाहिए ।

इन पदों का उच्चारण करते समय साधक सोचता है,

"शक्ति होने के बावजूद मैंने ऐसे उत्तम व्रतों का स्वीकार नही किया । जब स्वीकार किया तब उनका शुद्ध पालन करने के लिए जो यत्न करना चाहिए वह नहीं किया । जिसके कारण कभी मुझ से व्रत खंडित हो गए तो कभी विराधित हो गए ।

हे भगवंत ! दुःखार्द्र दिल से उन सब दोषों की मैं क्षमा चाहता हूँ एवं फिर ऐसी गलती न हो ऐसे संकल्पपूर्वक 'मिच्छा मि दुक्कडं' देता हूँ ।"

नाणंमि दंसणम्मि सूत्र

सूत्र परिचय :

मोक्ष का अनन्य उपाय ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रयी है । इस रत्नत्रयी की प्राप्ति एवं वृद्धि ज्ञानाचार दर्शनाचार, चारित्रचार, तपाचार एवं वीर्याचाररूप पाँच आचार के पालन से होती है, इसलिए साधु भगवंत सतत एवं श्रावक समय और शक्ति के अनुसार इन ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों का पालन करते हैं । इन पाँच आचारों का पालन न करना या विपरीत पालन करना ज्ञानादि गुणों में विघ्नकारक बनता हैं । प्रतिक्रमण करते समय श्रावक इस सूत्र की एक एक गाथा के माध्यम से पाँचों आचारों के अतिचारों का चिंतन करता है । इसलिए यह सूत्र '**अतिचार आलोचना**' सूत्र भी कहलाता है ।

सामान्य से ऐसा नियम है कि, सदाचार के बिना सद्विचार नही टिकता एवं सद्विचार के बिना सद्गुणों की प्राप्ति नहीं होती । इन सद्गुणों की प्राप्ति के लिए अनेक धर्मशास्त्रों में अनेक प्रकार की सत्प्रवृत्तियाँ बताई गई हैं, परन्तु मोक्ष मार्ग के अनुरूप जैसे आचार जैन शास्त्रों में बताए हैं, वैसे आचार और कहीं देखने को नहीं मिलते ।

आचार किसे कहते हैं एवं सामान्य से आचार कितने हैं ? उसका उल्लेख इस सूत्र की **प्रथम गाथा** में किया गया है । धन की रुचि वाले को जैसे धन

संबंधी बातों से प्रीति होती है, वैसे मोक्ष के प्रति रुचि रखनेवाले को इन आचारों का नाम भी आनंददायी लगता है ।

मोक्ष के महासुख का आनंद पाने के लिए सर्वप्रथम मोक्ष क्या है ? उसमें बाधक तत्त्व कौन से हैं ? उसकी जानकारी आवश्यक है । मोक्ष याने और कुछ नहीं पर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति... अपनी आत्मा भी अतीन्द्रिय है तथा आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में बाधक बने, वैसे तत्त्व भी अतीन्द्रिय हैं । अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सर्वज्ञ भगवंत के शास्त्र के बिना कहीं भी नहीं मिलता। इस शास्त्रज्ञान को पाने के लिए जो सत्प्रवृत्ति करनी जरूरी है उसका नाम **ज्ञानाचार** है । इस सत्प्रवृत्ति के सामान्य से आठ प्रकार इस सूत्र की **दूसरी गाथा** में बताए गए हैं ।

इन आचारों के माध्यम से शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के बाद भी उस ज्ञान के प्रति श्रद्धा अति आवश्यक है । श्रद्धा के बिना अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी श्रेय मार्ग पर आगे बढ़ने नहीं देता । श्रद्धा रहित ज्ञान सद्ज्ञान नहीं बनता । इसलिए श्रद्धा को प्राप्त करने तथा उसे अधिक दृढ़ करने के लिए जिन आचारों का पालन आवश्यक है, उन्हें **दर्शनाचार** कहते हैं । उसके आठ भेद इस सूत्र की **तीसरी गाथा** में बताए गए हैं ।

ज्ञान तथा श्रद्धा प्राप्त होने के बाद भी जब तक मन एवं इन्द्रियों को गलत मार्ग से वापिस लाकर, सुखकारक संयम के मार्ग में स्थिर न किया जाय, तब तक मोक्ष के सुख की झांकी भी नहीं हो सकती । मोक्ष के आंशिक सुख को पाने के लिए, मन और इन्द्रियों को स्थिर कर, आत्माभिमुख बनाने के लिए जिन आचारों का पालन जरूरी है, उन्हें **चारित्राचार** कहते हैं । उसके आठ प्रकारों का वर्णन इस सूत्र की **चौथी गाथा** में किया गया है ।

चारित्र का एक विशेष प्रकार तप कहलाता है । तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है : **'तपसा निर्जरा च'** अर्थात् तप करने से कर्म का संवर और निर्जरा होती है । मोक्षमार्ग में बाधक तत्त्वों का विनाश एवं ज्ञानादि गुणों की वृद्धि इस तप द्वारा होती है, यह तप किस प्रकार एवं किस भाव से करना चाहिए, यह **पाँचवीं**

गाथा में बताया गया है । तदुपरांत तप धर्म के बाह्य एवं अंतरंग भेदों का वर्णन इस सूत्र की **छट्ठी एवं सातवीं गाथा** में किया गया है ।

तन, मन एवं धन की शक्ति के सद्व्यय के बिना एक भी आचार का पालन संभव नहीं है। पाँचों आचारों में इनकी शक्ति का उपयोग किस तरीके से तथा कितना करना चाहिए, उसको बतानेवाले आचार का नाम **वीर्याचार** है । इस वीर्याचार के पूर्ण पालनपूर्वक ज्ञानादि गुणों के लिए यत्न किया जाए तो उन उन गुणों की प्राप्ति तथा वृद्धि अच्छे तरीके से हो सकती है । इसलिए सर्व गुणों को प्राप्त करने के लिए इन आचारों का अच्छी तरह समझकर पालन करना अनिवार्य है । पांचों आचारों में व्यापक वीर्याचार का वर्णन **आँठवी गाथा** में है ।

इस प्रकार आठ गाथाओं से बने हुए इस सूत्र के माध्यम से पाँचों आचारों को जानना चाहिए । जानकर शक्ति के अनुसार अच्छी तरह उनका पालन करना चाहिए । ज्यों ज्यों इन आचारों का पालन होगा, त्यो त्यों आत्मिक गुण वृद्धिमान एवं निर्मल होंगे, अन्यथा उनमें मलिनता आ जाएगी ।

आत्मिक गुणों में आई मलिनता को दूर करने के लिए साधक प्रतिक्रमण करता है । प्रतिक्रमण करते समय कायोत्सर्ग में वह काया को स्थिर करके, मौन धारण करके, मन को इस सूत्र में एकाग्र करके, सूत्र के प्रत्येक पद पर गहराई से आलोचन करता है । दिन भर की प्रवृत्ति के उपर दृष्टिपात करता है एवं किन आचारों को चूक गया या विपरीत किया वह याद करता है । जहाँ दोष की संभावना लगती है, उसे ध्यान में रखता है एवं प्रतिक्रमण में उन उन अवसरों पर उन दोषों का पुनरावर्तन न हो ऐसे भावपूर्वक, उन दोषों से मुक्त होने का यत्न करता है ।

इस सूत्र में बताए हुए पाँचों आचारों के एक एक प्रभेद को बताने के लिए भी महापुरुषों ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं । जैसे कि, अनशन नाम के तप की जानकारी के लिए पच्चक्खाण भाष्य, ध्यान के विषय को बताने के लिए ध्यानशतक, कायोत्सर्ग की समझ के लिए कायोत्सर्ग निर्युक्ति आदि । संस्कृत-प्राकृत में तो अनेक ग्रथों की रचना की है पर गुजराती वगैरह लोक भोग्य भाषा

में भी इस विषय पर अनेकों पुस्तके लिखी गइ हैं । यहाँ तो हरेक आचार की बातें बहुत ही संक्षेप में बताई गई हैं । विशेष जानकारी के लिए साधकों को आचारप्रदीप वगैरह ग्रंथों का आलोचन करना चाहिए ।

ये गाथाएँ श्रीमद् भद्रबाहुस्वामीजी द्वारा रचित दशवैकालिक की 'निर्युक्ति' में मिलती हैं । उसके उपर तार्किक शिरोमणि प.पू.आचार्य श्री हरिभद्र-सूरीश्वरजी महाराज की टीका भी उपलब्ध है । इसके अलावा उत्तराध्ययन सूत्र की तीन गाथाएँ भी इस सूत्र की तीसरी, छठ्ठी एवं साँतवी गाथा से मिलती हैं ।

मूल सूत्र :

नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरणम्मि तवम्मि तह य वीरियम्मि ।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ।।१।।
काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे ।
वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ।।२।।
निस्संकिअ निक्कंखिअ, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ।।३।।
पणिहाण-जोग-जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ।।४।।
बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतर-बाहिरे कुसल-दिट्ठे ।
अगिलाइ अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो ।।५।।
अणसणमूणोअरिआ, वित्ती❖-संखेवणं रसच्चाओ ।
काय-किलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ।।६।।
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गो वि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ।।७।।

❖ पाइअ शब्दानुशासन के समास को लगते नियम को लेकर इ का ई हुआ है ।

अणिगूहिअ-बल-वीरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरिआयारो ।।८।।

टिप्पणी : इस सूत्र में पाठक की सुविधा के लिए प्रत्येक गाथा की अन्वय सहित संस्कृत छाया एवं गाथार्थ विशेषार्थ के साथ ही दिया गया है ।

पद-३२, संपदा-३२, अक्षर-२८४

गाथा :

नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरणम्मि तवम्मि तह य वीरियम्मि ।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ।।१।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

ज्ञाने दर्शने च चरणे, तपसि तथा च वीर्ये ।
आचरणम् आचारः, इति एष पञ्चधा भणितः ।।१।।

गाथार्थ :

ज्ञान के विषय में, दर्शन के विषय में, चारित्र के विषय में, तप के विषय में तथा वीर्य के विषय में जो आचरण है वही (ज्ञानादि) आचार है । इस तरीके से यह आचार पांच प्रकार का है ।

विशेषार्थ :

ज्ञानादि पांचों गुणों को प्रगट करने के बाह्य तथा आंतरिक सम्यक् प्रयत्न को ज्ञानाचार आदि पाँच आचार कहते हैं । वे इस प्रकार हैं :

१ - ज्ञानाचार : जिसके द्वारा आत्मकल्याण का मार्ग जाना जा सकता है याने कि, मोक्ष मार्ग के उपायों का बोध हो सकता है, वह ज्ञान[1] है । इस ज्ञान

1. **ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम् -** जिसके द्वारा जाना जाए वह ज्ञान । ज्ञान के मति - श्रुत - अवधि, मनःपर्यव एवं केवल ये पाँच भेद हैं, तो भी यहाँ इन पाँचों मे से 'श्रुत' का ग्रहण करना है; क्योंकि श्रुतज्ञान के लिए ही काल, विनयादि बनाये रखने का प्रयत्न कर सकते हैं । जब कि

गुण को प्रकट करने एवं प्रगट हुए उस गुण में वृद्धि करने के लिए जो बाह्य एवं अंतरंग आचरण (प्रवृत्ति) किया जाए उसे ज्ञानाचार कहते हैं ।

२ - **दर्शनाचार :** तत्त्वभूत पदार्थ की यथार्थ रुचि अथवा श्रद्धा सम्यग्दर्शन[2] है, सम्यग्दर्शन गुण को प्रकट करने एवं प्रकट हुए इस गुण को अधिक निर्मल करने के लिए जो आचरण होता है, वह दर्शनाचार है ।

३ - **चारित्राचार :** सावद्य प्रवृत्तियों का आंशिक (देश से) अथवा सर्वथा त्याग कर, निरवद्य प्रवृत्तिपूर्वक आत्मभाव में स्थिर होने का प्रयत्न, चारित्र है एवं इस चारित्रगुण के पालन एवं वर्धन के लिए जो आचरण होता है वह चारित्राचार है ।

४ - **तपाचार :** जिससे रसादि धातु अथवा कर्म तपे उसे तप[3] कहते हैं । कहा गया है कि 'तपसा निर्जरा च'[4] तप से कर्म की निर्जरा (एवं संवर) होती है । तप गुण के पालन एवं उसकी वृद्धि के लिए (बारह प्रकार के तप में) किया हुआ आचरण तपाचार है । **तपाचार चारित्र की ही आंतरिक भूमिका रूप है।**

५ - **वीर्याचार :** जीव का सामर्थ्य, आत्मा का बल या शक्ति को वीर्य कहते हैं । इस वीर्य का शक्ति से न अधिक न कम अर्थात् यथाशक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणों में प्रवर्तन करना वीर्याचार है ।

इन पांचों आचारों का पालन ज्ञानादि गुणों में वृद्धि करता है । पंचाचार के पालन के बिना प्राप्त किए वे गुण आत्म कल्याणकारी नहीं बन सकते। इसलिए मोक्षार्थी जीव को मोक्ष के उपायभूत इन आचारों के पालन में अवश्य यत्न करना चाहिए ।

'श्रुतज्ञान' ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होनेवाला गुण है, तो भी यह क्षयोपशम शास्त्र द्वारा होता है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके शास्त्र अध्ययन को भी श्रुतज्ञान कहते हैं ।

2. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । - तत्त्वार्थ १-२
3. ताप्यन्ते रसादिधातवः कर्माणि वा अनेनेति तपः । - धर्मसंग्रह भाग-२
4. तत्त्वार्थ अ. ९, सू. ३

श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति तथा प्रतिक्रमण हेतु गर्भ सज्झाय में बताया गया है कि इन पंचाचार की विशुद्धि के लिए श्रावक को दो समय प्रतिक्रमण करना चाहिए।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए,

"परमकृपालु परमात्मा ने कितना महान उपकार किया है ! उन्होंने मुझे मेरा शुद्ध स्वरुप बताया एवं वहाँ तक पहुँचने का उत्तम मार्ग भी बताया । अनादिकाल से आवृत्त हुई मेरी गुणसंपत्ति को प्रकट करनेवाले इन पंचाचार का पालन कर अब तो मुझे भवभ्रमण का अंत लाना ही है । हे प्रभु! शक्ति होते हुए भी मुझ से पंचाचार का पालन न हुआ हो या उनमें भूल हुई हो, तो उनको सुधारने की मुझे शक्ति दीजिए ।"

अवतरणिका :

पाँच प्रकार के आचार में प्रथम ज्ञानाचार का वर्णन है :

गाथा :

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे ।
वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ।।२।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

काले विनये बहुमाने, उपधाने तथा अनिह्नवने ।
व्यञ्जनार्थतदुभये, अष्टविधो ज्ञानाचारः ।।२।।

गाथार्थ :

शास्त्र में निश्चित किए गए समय पर, गुर्वादि के विनयपूर्वक, अंतरंग बहुमानपूर्वक, (उपधान आदि) तप पूर्वक, ज्ञानदाता गुरु को छिपाए बिना, सूत्र के शुद्ध उच्चारणपूर्वक, अर्थ की विचारणापूर्वक और शब्द एवं अर्थ दोनों की शुद्धिपूर्वक शास्त्राभ्यास करना ज्ञानाचार है ।

विशेषार्थ :

सर्वज्ञकथित शास्त्र के आधार से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना ज्ञान है एवं ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जो शुभ आचरण किया जाए, उसे ज्ञानाचार कहते हैं । यह ज्ञानाचार निम्नोक्त आठ प्रकार का है ।

१. काले - काल के नियम का अनुसरण करना 'काल' नाम का प्रथम ज्ञानाचार है ।

किसी भी कार्य की सिद्धि में काल भी एक महत्त्वपूर्ण कारण होता है । इसलिए ज्ञानप्राप्ति के लिए शास्त्र में जो समय सूचित किया गया हो, उसी समय उस शास्त्र का अध्ययन करना कालविषयक प्रथम ज्ञानाचार है । काल मर्यादा का ध्यान रखते हुए शास्त्राभ्यास करने से ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होता है एवं मर्यादा का उल्लघंन करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है ।

ज्ञानप्राप्ति के लिए निश्चित समय पर पढ़ना, कालमर्यादा है, वैसे दूसरी भी अनेक काल मर्यादाएँ हैं, जैसे शास्त्रानुसार ज्ञानोपासना का समय हुआ हो, उसी समय अपने बुजूर्ग या सहवर्ती व्याधिग्रस्त हों एवं उन्हें सेवा की जरूरत हो, तब सेवा की उपेक्षा करके ज्ञानोपसना करना अनुचित होने से ज्ञानोपासना के लिए वह समय अकाल कहलाता है । उस समय पढने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है एवं तब ग्लान की (बीमार व्यक्ति की) सेवा करने से भी ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होता है ।

इस प्रकार किस समय अपने लिए क्या करना उचित है, उसका विवेकपूर्वक विचारकर शास्त्र ज्ञान के लिए प्रयत्न करनेवाला साधक ही इस आचार का यथार्थ पालन कर सकता है । फलतः वह अपने ज्ञान गुण की वृद्धि भी कर सकता है।

यहाँ यह खास ध्यान में रखना चाहिए कि, अकाल[5] में पढ़ने से जैसे दोष है,

5. अकाल : सूर्योदय के पहले, सूर्यास्त के बाद तथा मध्याह्न की ४८ मिनिट काल वेला 'अकाल' गिनी जाती है । इस समय शास्त्राभ्यास नहीं करना चाहिए । इसके अलावा भी आगमादि के अध्ययन के लिए जो अकाल गिना जाता है उसकी विशेष जानकारी गुरु भगवंत से प्राप्त करनी चाहिए । शास्त्र अध्ययन करनेवाले को काल मर्यादा का खास पालन करना चाहिए ।

वैसे ज्ञानाध्ययन के समय न पढ़ना, प्रमाद करना या पढ़ा हुआ भूल जाना भी ज्ञानाचार विषयक अतिचार है ।

२. विणए - विनयपूर्वक पढ़ना 'विनय' नामक ज्ञान का दूसरा आचार है।

विनय का सामान्य अर्थ है नम्रता एवं विशेष अर्थ है - कर्मों का क्षय करवाने, वाला योग्य व्यवहार ।[6]

ज्ञान की, ज्ञानी गुरु भगवंत की, ज्ञान के साधनभूत पुस्तक, पेन आदि उपकरण एवं अध्ययन करनेवाले सहवर्ती की भक्ति करना तथा किसी भी तरीके से उनकी आशातना न हो जाए उसका ख्याल रखना; विनय नाम का दूसरा ज्ञानचार है। जैसे कि गुरु भगवंत आए तब उनके सामने जाना, उनको बैठने के लिए आसन देना, चरण धोना, विश्रामणा करना, वंदन करना, उनके आदेश को पालने के लिए तत्पर रहना इत्यादि । पुस्तकादि को अच्छी तरह से एवं बहुमानपूर्वक लेना तथा रखना, अपवित्र स्थान में नहीं ले जाना, उनके उपर आहार-निहार न करना, उनको जहाँ तहाँ नहीं फेंक देना आदि ज्ञान के साधनों का विनय है । इसके अलावा ज्ञानी के योग्य अनुकूलताओं की व्यवस्था करना आदि ज्ञानी का विनय कहलाता है ।

आचार का पालन करने से ज्ञान के लिए अजीर्णता रुप मान दोष की वृद्धि नहीं होती, परन्तु जैसे जैसे शास्त्राध्ययन बढ़ता है, वैसे वैसे जीव अधिक-अधिक नम्र बनता जाता है, विनयी बनता है एवं ऐसे जीव को योग्य जानकर प्रसन्न हुए गुरु भी मन लगाकर शास्त्रज्ञान करवाते हैं । इस प्रकार इस आचार के पालन से ज्ञान गुण की वृद्धि होती है, जब कि विनय का पालन नहीं करनेवाले उद्धत शिष्य को गुरु द्वारा ज्ञान नहीं मिलता एवं मिला हो तो पचता नहीं, इसलिए 'विनय' नाम के आचार का पालन न करना, ज्ञानाचार विषयक अतिचार है ।

---

6. विनीयते क्षिप्यते अष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनयः ।

गुरोर्ज्ञानिनां ज्ञानाभ्यासिनां ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च पुस्तक-पृष्ठक-पत्र-पट्टिका-कपरिका-उलिका-टिप्पनक-दस्तरिकादीनां सर्वप्रकारैराशातनावर्जनभक्त्यादिर्यथार्हं कार्यः ।

- आचार प्रदीप

३. बहुमाणे[7] - ज्ञान, ज्ञान के साधनों तथा ज्ञानी पुरुषों के प्रति हृदय में प्रीति होना 'बहुमान' नाम का तीसरा ज्ञानाचार है ।

ज्ञानी भगवंतों आदि के दर्शन कर 'ये मुझ से महान हैं । ये ही भवसागर से पार करानेवाले हैं' ऐसा मानकर उछलते हृदय से उनकी भक्ति करने का अंदर का भाव होना तथा ज्ञान के साधनों एवं ज्ञानगुण के प्रति अंतरंग प्रीति होनी ज्ञान के विषय में 'बहुमान' नाम का आचार है, एवं ज्ञान तथा ज्ञानी के बहुमान के बिना पढ़ना ज्ञानाचार का अतिचार है ।

बाह्य से विनय दिखाई देता हो, परन्तु जब तक ज्ञानी पुरूषों के प्रति हृदय में बहुमान का भाव न हो, तब तक ज्ञान प्राप्ति में विघ्न करनेवाले कर्मों का नाश नहीं होता । इसलिए बाह्य विनय के साथ ज्ञानी के प्रति अंतरंग बहुमान का परिणाम भी ज्ञानगुण की प्राप्ति के लिए अति आवश्यक है । ज्ञान एवं ज्ञानी के प्रति बहुमान के बिना शास्त्राध्ययन करनेवाले का ज्ञान आत्मिक सुख प्राप्त नहीं करवा सकता । इसलिए 'बहुमान' नाम के आचार के अभाव अथवा विपरीत आचार को ज्ञानाचार का अतिचार कहते हैं ।

४. उवहाणे - शास्त्र के अध्ययन के लिए किए जानेवाले तप को उपधान कहते हैं जो 'उपधान' नाम का ज्ञान का चौथा आचार है ।

जिस क्रिया से आत्मा, ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी बनकर ज्ञान के अभिमुख होती है अथवा ज्ञान परिणति के योग्य बनती है, वैसी तपादि क्रिया को उपधान कहते हैं ।

विगई वाला आहार एवं बारबार ग्रहण किया हुआ आहार मन में विकृति पैदा करता है एवं इन्द्रियों को चंचल करता है । मन एवं इन्द्रियों की ऐसी अवस्था में किया हुआ शास्त्राध्ययन पदार्थ बोध तो करवाता है, परन्तु आत्मा में आनंद का झरना बहाकर, आत्माभिमुख भाव प्रगट नहीं करता ।

इस कारण से सूत्र का ज्ञान पाने के लिए शास्त्र में 'उपधान तप' का विधान किया गया है ।

---

7. बहुमाना अभ्यन्तरः प्रीतिप्रतिबन्धः । - आचार प्रदीप

नवकार मंत्र वगैरह सूत्रों के अधिकार के लिए श्रावक-श्राविकाओं को पौषध सहित उपवास, आयंबिल या कम से कम निवि का पच्चक्खाण एवं कायोत्सर्ग, खमासमण, देववंदन वगैरह शुभ क्रिया द्वारा उपधान करवाया जाता है । आगम आदि के अध्ययन के लिए साधु-साध्वीजी भगवंतों को योगोद्वहन की क्रिया कराई जाती है । इस क्रिया से मन निर्मल बनता है, इन्द्रियाँ शांत एवं स्थिर रहती हैं, परिणाम स्वरूप जो शास्त्राध्ययन होता है, वह अपूर्व भावों का दर्शन कराता है । इसके द्वारा आत्मा का विशिष्ट आनंद प्रकट होता है । इसलिए शास्त्र के माध्यम् से आत्मिक भावों को देखने की या पाने की इच्छावाले साधक को इस उपधान नाम के आचार का अवश्य पालन करना चाहिए । इस आचार के पालन के बिना स्वेच्छानुसार जो शास्त्राध्ययन करते हैं, उन्हें ज्ञानाचार का दोष लगता है ।

५. तह अनिण्हवणे - गुरु या सिद्धांत आदि का अपलाप न करना, 'अनिह्नव' नाम का ज्ञान का पाँचवाँ आचार है ।

कृपा का झरना बहाकर जिन गुरु भगवंतों ने हमें ज्ञानामृत का पान करवाया हो, उनके उपकार को आजीवन न भूलना, समय समय पर अपने उपकारी के तौर पर उनको याद करना, 'अनिह्नव' नाम का ज्ञानाचार है । जिन गुरु भगवंत के पास ज्ञानाभ्यास किया हो, वे उच्च कुलादि के न हों या प्रसिद्ध न हों तो उनका अपलाप कर अपने गौरव के लिए विद्यादाता के तौर पर कोई युगप्रधान आदि बड़े गुरु का नाम देना अथवा 'मैं स्वयं ही पढ़ा हूँ,' ऐसा कहना, ज्ञानाचार विषयक अतिचार है । इस तरह गुरु का अपलाप करनेवाला निह्नव गिना जाता है । गुरु का अपलाप करने से महापाप लगता है । अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है कि,

"एक अक्षर का भी ज्ञान प्रदान करनेवाले गुरु को जो गुरु नहीं मानता, उसको सौ बार कुत्ते की योनि में उत्पन्न होकर चांडाल आदि की योनि में जन्म लेना पड़ता है ।"

इसलिए इस निह्नव नाम के अतिचार से बचने की खास सावधानी रखनी चाहिए । इस अतिचार से बचने के लिए गुरु के अपलाप की तरह श्रुत का भी अपलाप नहीं करना चाहिए । जितना श्रुत पढा हो उतना ही कहना चाहिए । उससे कम या ज्यादा नही कहना चाहिए ।

६. वंजण - शब्द का शुद्ध उच्चारणपूर्वक श्रुताध्ययन करना "व्यंजन" नाम का ज्ञान का छट्ठा अतिचार है ।

'व्यज्यते अनेन अर्थः इति व्यञ्जनम्" जिससे अर्थ प्रकट हो वह व्यंजन । इस प्रकार सभी अक्षर व्यंजन कहलाते हैं । जो शास्त्र या सूत्र पढा जाए उसके प्रत्येक अक्षर का उच्चारण या लिखावट शुद्ध होनी चाहिए । काना, मात्रा, अनुस्वार, लघुगुरु या पदच्छेद आदि में कही भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिए क्योंकि, अशुद्ध लिखावट या अशुद्ध उच्चारण अर्थ का अनर्थ करते हैं, जैसे कि 'अधीयताम्' का अर्थ है पढ़ाइये पर अनुस्वार बढ़ाकर 'अंधीयताम्' बोलने से उसका अर्थ 'उसे अंधा कर दो' ऐसा होता है। भूल से एक अनुस्वार या मात्रा आदि बढ़ाने या कम करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है । इसलिए शास्त्र पढ़कर जिसे शास्त्र वचनों के परिणाम पाने की इच्छा हो, उसे सर्व प्रथम सद्गुरु भगवंत के पास प्रत्येक सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना सीखना चाहिए, तो ही व्यंजन विषयक ज्ञान के छट्ठे आचार का पालन होता है एवं अशुद्ध उच्चारण या लेखन करने से 'व्यंजन' विषयक ज्ञान का अतिचार लगता है ।

७. अत्थ - अर्थ को समझते हुए शास्त्राध्ययन करना 'अर्थ' नाम का सातवाँ अतिचार है ।

सूत्र का अध्ययन करने के बाद, सद्गुरु भगवंत के पास सूत्र या शब्द का यथा संदर्भ अर्थ[8] को विधिवत् समझना 'अर्थ' नामक ज्ञानाचार है । अर्थ

8. एक ही शब्द का अर्थ करते हुए आगे-पीछे का संदर्भ ध्यान में न लिया जाय तो अर्थ के बदले अनर्थ हो जाता है । जैसे कि 'नरवृषभ' मनुष्यों में श्रेष्ठ अर्थ शास्त्रों मे संमत है, परन्तु संदर्भ का विचार किए बिना कोई उसका अर्थ 'मनुष्य में बैल' ऐसा करें तो वह ठीक नहीं ।

समझना अर्थात् मात्र शब्दार्थ समझना नहीं, परन्तु शब्दार्थ एवं भावार्थ द्वारा अंतिम एदंपर्यार्थ (तात्पर्यार्थ) तक पहुँचने का प्रयत्न करना । समझे हुए तात्पर्यार्थ को जीवन में इस तरीके से उतारना कि जिससे संयमादि गुणों की वृद्धि हो । इस प्रकार अर्थ के लिए होनेवाला आचरण सातवाँ ज्ञानाचार है । अर्थ का चिन्तन किये बिना सूत्र को यथा स्वरूप बोलना अथवा अर्थ भेद करना 'अर्थ' विषयक ज्ञान का अतिचार है ।

८. तदुभए - शब्दशुद्धि के साथ अर्थशुद्धि पूर्वक अध्ययन करना 'तदुभय' नाम का ज्ञान का आठवाँ आचार है ।

बहुत बार सूत्र का शुद्ध उच्चारण होता है, परन्तु अर्थ का विचार नहीं होता, तो कभी-कभी अर्थ का विचार होता है, परन्तु सूत्र का शुद्ध उच्चारण नहीं होता ऐसा होने पर ज्ञानविषयक तदुभयाचार नहीं हो सकता । इसलिए तदुभयाचार का पालन करने के लिए साधक को सूत्र एवं अर्थ दोनों को स्वनामवत् (अपने नाम की तरह) ऐसा स्थिर करना चाहिए कि शब्द बोलते ही तुरंत उसका अर्थ-भावार्थ स्पष्ट हो जाए, इसी प्रकार अर्थ का विचार करते हुए तुरंत सूत्र उपस्थित हो जाए । इस प्रकार सूत्र तथा अर्थ दोनों की उपस्थिति ज्ञानाचार का तदुभय नाम का आठवाँ आचार है एवं दोनों में से एक की भी शुद्धि का ख्याल नहीं रखना 'तदुभय' विषयक ज्ञानाचार का अतिचार है ।

शास्त्र में तो कहा गया है कि सूत्र के एक पद का भी उच्चारण[9] गलत हो तो अर्थ गलत हो जाता है एवं अर्थ गलत हो तो क्रिया गलत होती है । क्रिया गलत हो तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती । अगर क्रिया से मोक्ष प्राप्त न हो तो साधु या श्रावक के तपादि कष्टदायक अनुष्ठान भी निरर्थक साबित होंगे । इस कथन से शुद्ध उच्चारण एवं शुद्ध लेखन का कितना महत्त्व है, यह समझा जा सकता है ।

9. तत्र व्यञ्जन्त्यर्थमिति व्यञ्जनानि - अक्षराणि तेषामन्यथाकरणे न्यूनाधिकत्वे वाऽशुद्धत्वेनानेके महादोषा महाशातनासर्वज्ञाज्ञाभङ्गादयः, तथा व्यञ्जनभेदेऽर्थभेदस्तद्भेदे च क्रियाभेदः क्रियाभेदे च मोक्षाभावः तदभावे च निरर्थकानि साधु-श्राद्ध-धर्माराधन तपस्तपनोपसर्गसहनादिकष्टानुष्ठानान्यपि । - आचार प्रदीप

अट्ठविहो नाणमायारो - इस तरह ज्ञान का आचार आठ प्रकार का है।

इस प्रकार ज्ञान के आठ आचरों के पालनपूर्वक शास्त्रज्ञान में प्रयत्न करने से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होता है । उससे ज्ञानगुण की वृद्धि होती है एवं माषतुष मुनि आदि की तरह जीव अंत में केवलज्ञान तक भी पहुँच सकता है । दूसरी तरफ इन आचारों को पालने में प्रमाद करने से अथवा आचारों के पालन बिना ही शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए मेहनत करने से, कभी शास्त्र के शब्द-अर्थ का ज्ञान हो जाए, तो भी प्रायः उससे शास्त्र के परमार्थ तक नहीं पहुँच सकते, आत्म परिणति को निर्मल नहीं कर सकते, निजानंद की मौज नहीं मिल सकती। इसलिए श्रुतज्ञान के सहारे जिसे आत्मा का आनंद पाना हो, उसे शास्त्र में बताए हुए आठ आचारों के पालनपूर्वक ही अध्ययन करना चाहिए ।

प्रतिक्रमण की क्रिया करते समय साधक को यह गाथा बोलते हुए सोचना चाहिए,

"जिस ज्ञान के सहारे मुझे अपने दोष देखने हैं, जिसके सहारे मुझे अपनी आत्मा को शुद्ध करना है, उस ज्ञान प्राप्ति का उपाय ये आचार हैं । ये आचार मेरे ज्ञानगुण को प्रगट करने के साधन हैं, वैसा मैं जानता हूँ, तो भी इन आचारों में कहीं पर चूक गया हूँ । यह मुझ से बहुत गलत हुआ है । ज्ञान और ज्ञानाचार की आशातना के दुरंत दुःखदायी फल से बचने के लिए आज के दिन में मेरी जो भी भूल हुई हो, उसे याद करके उसकी मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उस तरीके से मेरे द्वारा हुए पाप से वापस लौटने के लिए प्रयत्न करता हूँ ।"

अवतरणिका :

ज्ञानाचार के बाद अब दर्शनाचार बताते हैं -

गाथा :

निस्संकिअ निक्कंखिअ निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ।।३।।

संस्कृत छाया :

निःशङ्कितं निष्कांक्षितं निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहा-स्थिरीकरणे, वात्सल्य-प्रभावने अष्ट ।।३।।

गाथार्थ :

निःशंकितता, निष्कांक्षितता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपबृंहणा, स्थिरीकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना : ये आठ प्रकार के (दर्शनाचार) हैं ।

विशेषार्थ :

सद्गुरु के मुख से शास्त्र श्रवण करने से संसार की विचित्रता का बोध होता है एवं आत्महित की इच्छा जागृत होती है, तब अप्रत्यक्ष रुप आत्महित के पथ पर किस तरह चलना चाहिए ? यह मुमुक्षु जीव के लिए महाचिंता का विषय होता है क्योंकि इस जगत् में आत्महित की बातें करनेवाले बहुत हैं, लेकिन राग, द्वेष एवं अज्ञान से भरे हुए लोग जब खुद ही अप्रत्यक्ष आत्मा को देख नहीं पाते या उसे जान नहीं पाते तो वे दूसरों को आत्महित का मार्ग कैसे बता सकते हैं ? आत्मकल्याण का मार्ग वे ही देख सकते हैं एवं दिखा सकते हैं जिन्होंने राग, द्वेष एवं अज्ञान का नाश किया हो एवं जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग बने हों[10] । इसलिए आत्महित के लिए 'जिनेश्वर ने जो कहा है वही सत्य है'[11] वैसी दृढ़ श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन[12] है ।

10. शासनात्त्राणशक्तेश्च, बुधैः शास्त्रं निरुच्यते । वचनं वीतरागस्य, तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ।।१२।।
वीतरागोऽनृतं नैव, ब्रूयात्तद्धेत्वभावतः । यस्तद्वाक्येष्वनाश्वास स्तन्महामोहजृम्भितम् ।।१३।।
- अध्यात्म उपनिषद् अधिकार-१

11. तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं । - आचारांग सूत्र

12. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । - तत्त्वार्थ० १-२ ।।

इस सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करने एवं प्राप्त हुए गुण को टिकाने के लिए जो आचरण किया जाता है उसे दर्शनाचार कहते हैं, उसके निम्नलिखित आठ प्रकार हैं -

१. निस्संकिअ - भगवान के वचनों में कहीं भी शंका नहीं करना निःशंकितता नाम का पहला दर्शनाचार है ।

आत्मा वगैरह अतीन्द्रिय पदार्थों का वर्णन करनेवाले शास्त्रवचनों को सुनकर, उन पदार्थो को जानने एवं देखने की इच्छारूप जिज्ञासा जरूर होनी चाहिए एवं उस जिज्ञासा के संतोष के लिए प्रयत्न भी करना चाहिए; परन्तु ये पदार्थ दीखते नहीं है इसीलिए होंगे कि नहीं ? शास्त्र में कहा है वैसे होंगे या अलग होंगे ? ऐसी किसी भी प्रकार की शंका न करना 'निःशंकितता' नाम का प्रथम दर्शनाचार है एवं शंका करना दर्शनाचार विषयक अतिचार है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक शंका को टालकर निःशंकित होना चाहिए ।

शास्त्र में कहा गया है कि 'मैं जानता हूँ' - 'मैं देखता हूँ' वगैरह वाक्य प्रयोगों में 'मैं' शब्द से आत्मा वाच्य बनती है अर्थात् जानने देखने आदि सब क्रियाओं का कर्ता आत्मा है । वह आत्मा अनंत ज्ञानादि स्वरूप है एवं सुख उसका स्वभाव है । इसके अतिरिक्त वह सहज आनंद का पिंड है । ऐसा होते हुए भी कर्म के साथ संबंध होने के कारण आज उसके गुण ढँक गये हैं, उसकी शक्ति आवृत्त हो गई है, उसको अनेक प्रकार के दुःखों का भाजन बनना पड़ता है । आत्मा के शुद्ध स्वभाव एवं विभाव की वास्तविकता ऐसी होते हुए अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न होने के कारण छद्मस्थ व्यक्ति को आत्मा, कर्म वगैरह पदार्थ दिखाई भी नहीं देते या अनुभव में भी नहीं आते । इसलिए उसे शंका हो सकती है कि आत्मा, पुण्य-पाप आदि होंगे या नहीं ?

ऐसी शंकाओं का सुयोग्य समाधान न मिलता हो तब मन कभी ऐसा सोच बैठता है कि, आत्मादि पदार्थ नहीं होगे । शंका ऐसी नकरात्मक मनोवृत्ति की ओर झुके, उससे पहले मन को समझाना चाहिए कि *"आत्मा, पुण्य आदि के*

अस्तित्व की बातें किसी सामान्य व्यक्ति ने नहीं की, सर्वज्ञ वीतरागने खुद के केवलज्ञान से देखकर ये बातें बताई हैं, केवलज्ञान द्वारा जो पदार्थ को यथार्थ देखते हैं और जो राग द्वेष से सर्वथा परे हैं, वे प्रभु असत्य क्यों बोलेगे ? मेरी बुद्धि की अल्पता के कारण मुझे उनकी बातें समझ में न आएँ, मोहाधीनता के कारण मेरे अनुभव में यह वस्तु न आए, ऐसा हो सकता है, परन्तु प्रभु ने कहा है तो वह सत्य ही है ।"

ऐसा सोचकर जिनवचन को यथार्थ रूप से समझने का प्रयत्न करना चाहिए । योग्य स्थान पर जिज्ञासावृत्ति से प्रश्न पूछकर समाधान पाना चाहिए, परन्तु जिनके आधार पर सुख की साधना का आरम्भ करना है, वैसे जिनवचन में कभी भी शंका नहीं करनी चाहिए । यही निःशंकित नाम का प्रथम दर्शनाचार है । जिनवचन में शंका करना, या समझ में नहीं आता वैसा मानकर शास्त्र समझने की उपेक्षा करना दर्शनाचार विषयक 'शंका' नाम का अतिचार है ।

संक्षेप में, आत्महित की इच्छा से सच्चे धर्म को खोजना, समझना एवं शंका रहित बनकर जीवन में उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखना पहला दर्शनाचार है ।

अब स्वीकार किए हुए धर्म की वफादारी रूप दूसरा आचार बताते हैं -

२. निक्कंखिअ - कांक्षा रहित होकर - अन्य धर्म की इच्छा रखे बिना सत्य धर्म को पकड़ कर रखना 'निष्कांक्षित' नाम का दूसरा दर्शनाचार है ।

जैन धर्म के आचार, विचार तथा पदार्थ अद्वितीय कोटि के हैं । अति उत्तम इस धर्म को प्राप्त करने के बाद अन्य धर्म में चाहे कैसा भी चमत्कार दीखता हो या बाह्य चमकीलापन दीखता हो, तो भी उससे प्रभावित नहीं होना चाहिए। 'ये धर्म भी ठीक है, तत्काल फल देनेवाला है,' ऐसा मानकर वह धर्म करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, परन्तु जिनेश्वर का धर्म ही सत्य है, वही आत्महित करनेवाला है वैसा मानना 'निष्कांक्षित' नाम का दूसरा दर्शनाचार है ।

कई बार सूक्ष्म समझ के अभाव के कारण अन्य धर्म की थोड़ी तार्किक बातों को सुनकर, कोई चमत्कार देखकर, या किसी कष्ट के बिना सानुकूलता से होते

धर्म को देखकर मुग्ध जीव उस तरफ मुड़ जाते हैं । इसके अलावा भौतिक सुख के रसिक जीव, जहाँ भी भौतिक कामनाएँ पूरी होती दिखाई देती हों वहाँ दौड़े चले जाते हैं एवं धन, संपत्ति, पुत्र-परिवार के लिए किसी भी देव के पास जाते हैं एवं आत्मा के लिए महाअनर्थकारी धर्म को भी स्वीकार लेते हैं, ऐसे जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते एवं प्राप्त किया हों तो भी टिका नहीं सकते । इसके अलावा वे प्राप्त सम्यग्दर्शन को गँवाकर भविष्य में भी उसकी प्राप्ति दुर्लभ बनाते हैं । इसलिए अन्य दर्शन की इच्छा को दर्शनाचार विषयक 'कांक्षा' नामक अतिचार कहते हैं ।

सम्यग्दर्शन पाने के लिए या पाए हुए को टिकाने के लिए वीतराग के सिवाय किसी की भी तार्किक बातें सुनकर या चमत्कार देखकर उससे प्रभावित नहीं होना चाहिए या सानुकूल धर्म की तरफ झुकना भी नहीं चाहिए, ऐसी दृढ मनोवृत्ति रखना, यही इस निकंखिअ नामक आचार का पालन है ।

३. निव्वितिगिच्छा - मतिविभ्रम न करना अर्थात् बुद्धि स्थिर रखना अथवा साधु साध्वी के मलिन वस्त्रों के प्रति घृणा या जुगुप्सा नहीं करना 'निर्विचिकित्सा' नाम का तीसरा दर्शनाचार है ।

निव्वितिगिच्छा[13] - शब्द के दो अर्थ निकलते हैं -

१. निर्विचिकित्सा २. निर्विजुगुप्सा.

विचिकित्सा अर्थात् मति का विभ्रम । धर्म करते हुए **बाह्य शुभ क्रिया के माध्यम से अंदर में प्रगट होनेवाला शुभ या शुद्ध भाव ही धर्म है** । इस धर्म का एक फल है आंतरिक निर्मलता या चित्त की शुद्धि एवं दूसरा फल है, पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध । समझ एवं श्रद्धापूर्वक अगर धर्म क्रिया की जाए तो चित्त निर्मलता रूप प्रथम फल तत्काल मिलता है एवं दूसरा फल कभी तत्काल दीखता है एवं कभी विलंब से देखने को मिलता है । चित्त की निर्मलता रूप प्रथम फल को देखने की जिसमें क्षमता नहीं एवं पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले बाह्य

13.विचिकित्सा-मतिविभ्रमः, निर्गता विचिकित्सा-मतिविभ्रमो यतोऽसौ निर्विचिकित्सः यद्वा निर्विजुगुप्सः - साधुजुगुप्सारहितः । - हितोपदेश

फलों की जिन्हें आकांक्षा रहती है, वैसे जीवों को ऐसा भ्रम होने की संभावना है कि, धर्म के मार्ग पर चल तो रहे हैं; परन्तु कोई फल क्यों नहीं मिलता ? इसका कोई फल होगा कि नहीं ? धर्म के फल के विषय में ऐसा संदेह होने के कारण उन जीवों का धर्म मार्ग में चलने का उत्साह मंद पड जाता है। इसलिए इस संदेह को दर्शनाचार का 'विचिकित्सा' नाम का अतिचार कहते हैं।

ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए सोचना चाहिए कि "यह धर्म सर्वज्ञ वीतराग भगवंत का बताया हुआ है । यथायोग्य तरीके से उसका पालन करने से सुखरूप फल अवश्यमेव मिलता है एवं तत्काल फल नहीं दीखता उसमें धर्म की कमजोरी नहीं, मेरी करनी की कमी है । धर्म की शक्ति तो अचिंत्य है, परन्तु फल की प्राप्ति मेरी करनी के अनुसार होती है । अगर शास्त्र की आज्ञा के अनुसार धर्म करूँ, तो जरूर अनंत सुखरूप फल मैं पा सकता हूँ ।" ऐसा विचार दर्शनाचार का 'निर्विचिकित्सा' नाम का तीसरा आचार है।

'निव्वितिगिच्छा' - का दूसरा अर्थ है निर्विजुगुप्सा अर्थात् साधु साध्वी के मलिन वस्त्र देखकर जुगुप्सा नहीं करना, नाक नहीं सिकोड़ना, दुर्गंध के कारण दूर नहीं रहना इत्यादि ।

वस्त्र की मलिनता या वस्त्र की चमक, ये दोनों पौद्गलिक भाव हैं । अनादिकाल के अविवेक के कारण संसारी जीव अच्छे, सुगंध युक्त वस्त्र देखकर राग एवं खराब या दुर्गंध भरे हुए वस्त्रों को देखकर द्वेष करते हैं । मुनि जानते हैं कि ये तो पौद्गलिक भाव हैं । अच्छे पुद्गलों में राग एवं खराब में द्वेष करना मेरे लिए उचित नहीं है। इसलिए मुनि रागादि भावों से दूर होने के लिए अपने देह एवं वस्त्रादि की उपेक्षा करते हैं । उनके उपर लगे हुए मैल या पसीने आदि को भी वे निभा लेते हैं ।

शरीर की ममता को तोड़ने ऐसा उत्तम प्रयत्न कर रहे मुनियों के मैले वस्त्र या देह को देखकर उनके प्रति जुगुप्सा करना, नफरत करना, उनसे दूर भागना या नाक सिकोड़ना 'विचिकित्सा' नामका दर्शनाचार का अतिचार है । इसके

अतिरिक्त कभी मलिन देहवाले मुनियों को देखकर भगवान् ने ऐसा आचार क्यों बताया होगा ?' ऐसा विकल्प भी उठता है । वह भी दर्शनाचार का 'वितिगिच्छा' नाम का अतिचार ही है ।

भगवान की आज्ञानुसार जीवन जीते हुए, शरीर एवं वस्त्रादि के प्रति निःस्पृह रहनेवाले मुनि को देखकर उनके प्रति एवं वैसा आचार बतानेवाले सर्वज्ञ वीतराग भगवंत के प्रति अहोभाव या आदरभाव रखना, जुगुप्सा नहीं करनी 'निर्विजुगुप्सा' नामक दर्शनाचार का तीसरा आचार है ।

४. अमूढदिट्ठी अ - मूढ़ता रहित बुद्धि रखना या विवेकपूर्वक विचार करना अमूढ़दृष्टि नाम का चौथा दर्शनाचार है ।

जो मनुष्य सही-गलत का विचार किए बिना मात्र आचरण करता है उसे इस जगत् में मूढ या गँवार कहते हैं । जो सार-असार का विचार करके प्रवृत्ति करता है उसे अमूढ, बुद्धिशाली या चतुर कहते हैं । इसी तरह धर्म के क्षेत्र में प्रवेश करने के बाद जो साधक कौन सा धर्म सत्य है, कौन से गुरु मेरी आत्मा का हित कर सकते हैं एवं कौन से देव सर्व दोष रहित कहलाते हैं, उस संदर्भ में कुछ भी सोचते नहीं एवं मात्र कुल परंपरा से या गतानुगतिक तरीके से धर्म करते है, उनको इस क्षेत्र में मूढ़ कहते हैं । जो अपनी बुद्धि के अनुसार विचारकर विवेकपूर्वक प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करते है एवं स्वीकार के बाद अपनी समझ एवं शक्ति का उस प्रकार से उपयोग करते हैं, उन्हें इस क्षेत्र में अमूढ दृष्टिवाले[14] कहते हैं । ऐसे जीवों के धार्मिक क्षेत्र में हुए आचरण को 'अमूढदृष्टि' नामक चौथा दर्शनाचार कहते हैं ।

अध्यात्मिक क्षेत्र में जीव अनादिकाल से मूढ़ रहा है । इसलिए भौतिक क्षेत्र में महाबुद्धिशाली, सोच-सोच कर कदम रखनेवाला मनुष्य भी अपनी आत्मा का हित किससे होगा ? सच्चा सुख किस तरीके से मिलेगा ? इस विषय पर विचार ही नहीं कर सकता । ऐसे जीव कभी धर्म मार्ग मे जुड़ते हैं तो भी वे कौन

---

14. न मूढा - स्वरूपात्र चलिता दृष्टिः सम्यग्दर्शनरूपा यस्यासावमूढदृष्टिः । - हितोपदेश

सा धर्म किस तरीके से करने से इस संसार का दुःख टलेगा एवं सदा के लिए मोक्ष का सुख मिलेगा, उसका कोई विचार नहीं कर सकते। इसी कारण ऐसे जीव धर्म कार्य करते हुए भी सम्यग्दर्शन नहीं पा सकते या पूर्व में कभी अमूढ़ता से पाए हुए सम्यग्दर्शन को टिका नहीं सकते ।

इसलिए चिरकालीन सुख देनेवाले धर्म मार्ग में बुद्धिमान पुरुष को निर्विचारक नहीं रहना चाहिए, शास्त्र को समझने एवं तत्त्व का निर्णय करने के लिए प्राप्त हुई बुद्धि का पूर्ण उपयोग करना चाहिए । आध्यात्मिक क्षेत्र में सक्रिय विवेकपूर्ण विचार दर्शनाचार का आचार है एवं उसका अभाव अतिचार है ।

इन चारों आचारों का पालन विचारशील व्यक्ति ही कर सकता है एवं दर्शनाचार के शंका, कांक्षा आदि अतिचारों भी धर्म संबंधी विचार करनेवाले को ही लगते हैं । विचारविहीन व्यक्ति तो सम्यग्दर्शन से दूर ही बैठा है । वह आचारों का पालन ही नहीं करता तो अतिचारों की बात ही कहां से आएगी?

अभी तक के चारों आचार अपनी आंतरिक श्रद्धा को दृढ़ एवं अविचलित रखने संबंधी थे । आगे के चार आचार अन्य व्यक्ति के साथ अपने व्यवहार से जुड़े हैं, दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार अन्य के लिए धर्म प्राप्ति का कारण बनता है, साथ ही उस अच्छे व्यवहार से उपार्जित पुण्य से अपनी खुद की उन्नति भी सुलभ बनती है ।

५. उववूह - गुणवान् व्यक्ति के गुणों की प्रशंसा करके उसके धर्म में वृद्धि करना 'उपबृंहणा' नामक पाँचवां दर्शनाचार है ।

सम्यग्दर्शन प्राप्त की हुई अथवा पाने की इच्छावाली आत्माएँ गुणानुरागी होती हैं । जहाँ मोक्ष मार्ग के अनुकूल गुण दिखाई देता हो, वहाँ उनका दिल नाच उठता है एवं उचित अवसर हो तो वे उस गुण की प्रशंसा किए बिना भी नहीं रहते । कभी ऐसा लगे कि अभी प्रशंसा करने से सामनेवाले व्यक्ति का अहित होगा तो मौन रहते हैं, पर उनका हृदय तो गुण देखकर आनंद में आ

ही जाता है । इस तरह उछलते हृदय से गुणवान् के गुणों की प्रशंसा करके उसके धर्म को, धर्म की भावना को बढाना 'उपबृंहणा'[15] नाम का पाँचवाँ दर्शनाचार है ।

अनादिकाल से जीव ने गुण की उपेक्षा कर दोषों का ही पक्ष लिया है । गुणवान् भी खुद को अनुकूल हो या अपने काम में आता हो, तो ही उसको सही मानकर (स्वार्थ के लिए) उसकी प्रशंसा की है, अपनी प्रसिद्धि में या मान-सम्मान एवं इच्छापूर्ति में बाधा रूप गुणवान् की ईर्ष्या, चुगली एवं निंदा करना जीव ने कभी छोड़ा नहीं । फलतः जीव गुणों से वंचित रहा है एवं दोषों से पुष्ट हुआ है ।

गुणवान् के गुणों की प्रशंसा करना यह गुणों की प्राप्ति एवं दोषों को टालने का परम उपाय है; क्योंकि गुणवान् के गुणों को गाने से गुणों के प्रति आदर बढ़ता है एवं दोषों के प्रति पक्षपात मंद मंदतर होता जाता है । इसके अलावा अनादिकालीन दोष देखने एवं बोलने की खराब आदत टलती है, एवं गुण देखने एवं गुण बोलने की अच्छी आदत पडती है । कहते हैं कि **"उत्तम ना गुण गावतां गुण आवे निज अंग ।"** उत्तम पुरुषों के गुण गाते गाते खुद को वे गुण प्राप्त होते हैं ।

विवेकपूर्वक की हुई प्रशंसा के दो बोल सुनकर योग्य एवं विवेकी आत्मा आनंदित होती है एवं उत्साहपूर्वक अपने सद्गुणों की वृद्धि के लिए प्रयत्न करने लगती है । गुण प्रशंसा का सब से बड़ा फायदा यह है । इसके अतिरिक्त, गुण प्राप्ति में विघ्न करनेवाले कर्म नाश होते हैं एवं गुणप्राप्ति के अनुकूल पुण्यकर्मो का बंध होता है । इसलिए सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त किए हुए एवं प्राप्त करने की इच्छावाले साधक को उपबृंहणारूप दर्शनाचार का अवश्य पालन करना चाहिए ।

---

15. उपबृंहणा शब्द बृह् धातु से बना है । बृह् धातु का अर्थ पोषण एवं परिवर्धन होता है अथवा उपबृंहणा शब्द का अर्थ प्रशंसा होता है । उपबृंहणं नाम समानधर्मिकाणां सद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकरणम् । - हितोपदेश

प्रशंसा के विषय में इतना खास ध्यान रखना कि; प्रशंसा किसी की भी, कहीं पर भी, किसी भी तरीके से नहीं करनी है । योग्य आत्मा की, योग्य स्थान में एवं योग्य तरीके से, स्व-पर सब का हित हो उस तरीके से निःस्वार्थ भाव से करनी है । सामनेवाले व्यक्ति को खुश रखने या खुश करके अपना स्वार्थ साधने के लिए यदि प्रशंसा की जाए या विवेक के बिना कही भी जैसे-तैसे प्रशंसा की जाए तो वह प्रशंसा 'उपबृंहणा' नामक दर्शनाचार न रहकर उसका अतिचार या दोष बन जाता है । उसी प्रकार योग्य आत्मा की योग्य स्थान पर विवेकपूर्ण प्रशंसा नहीं करना वह भी दर्शनाचार का अतिचार है ।

६. थिरीकरणे - धर्म में कमजोर बनी हुई आत्माओं को धर्म में स्थिर करना छट्ठे 'स्थिरीकरण' नाम का दर्शनाचार है ।

सभी सुखों के स्थानभूत जैनधर्म को प्राप्त करने के बाद कोई जीव नाराज़ दिखे, धर्म में प्रमाद करता दिखे, तो तन से उसकी सेवा-शुश्रूषा करें, वाणी से वह धर्म मार्ग में स्थिर हो ऐसे शब्द कहें, मन से अपनी समझ एवं बुद्धि का उपयोग करके एवं धन से भी सहायता करके उसे धर्म मार्ग में स्थिर करना 'स्थिरीकरण'[16] नाम का दर्शनाचार है ।

अन्य को धर्ममार्ग में स्थिर करने से अन्य साधक को भी उत्तरोत्तर धर्म मार्ग में आगे बढ़ाकर आखिर मोक्ष तक पहुँचाने में सहायक बना जा सकता है एवं खुद को भी पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है ।

शक्ति होते हुए भी और अनुकूल संयोग होने पर लोभ से, प्रमाद से, उपेक्षा से या अविचारकता से अन्य को धर्म में स्थिर करने का जो प्रयत्न नहीं करता वह दर्शनाचार की आराधना से चूक जाता है ।

७. वच्छल्ल - गुणवान् आत्मा के प्रति स्नेह, झुकाव या प्रेम 'वात्सल्य' नाम का सातवां दर्शनाचार है ।

---

16. स्थिरीकरणं तु धर्माद्विषीदतां सतां तत्रैव स्थापनम् । - द. वै सूत्र की हारिभद्रीय वृत्ति

अपने पुत्र के प्रति जैसा भाव होता है वैसा ही भाव किसी के प्रति हो तो उस भाव को वात्सल्य कहते है । यह प्रेम का वाचक है। माता-पिता को अपनी संतान के प्रति किसी स्वार्थ या अपेक्षा के बिना का जो सहज प्रेम या स्नेह का भाव होता है, उस भाव को 'वात्सल्य'[17] कहते हैं । वात्सल्य के कारण ही माता-पिता अपने विकलांग बच्चों की भी देख-भाल करते हैं, उनका लालन-पालन करते है एवं उनकी सभी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं । उसी तरह गुणवान् या गुणहीन कक्षा का साधर्मिक हो, तो भी उस के प्रति सहज प्रेम, स्वाभाविक स्नेह रखने की प्रवृत्ति एवं उस स्नेह के कारण उत्तम वस्त्र, पात्र, अन्न, पानी वगैरह से की हुई उसकी भक्ति, सद्भावपूर्वक की हुई उसकी देखभाल एवं उसकी सब जरूरते पूरी करने की भावना 'साधर्मिक वात्सल्य' नाम का सातवाँ दर्शनाचार है ।

इसके बदले स्वार्थ से, किसी प्रकार की अपेक्षा से या विकृत स्नेह या प्रेम से साधर्मिक भक्ति की जाएँ अथवा 'इस बिचारे का हम नहीं करेंगे, तो कौन करेगा ?' ऐसी दया की भावना से, विवेक या, बहुमान बिना, असभ्यता से उसको कुछ भी दिया जाय, तो वह दर्शनाचार का अतिचार है ।

जिज्ञासा : साधर्मिक यदि गुणवान् हो तो उसकी भक्ति करने की भावना सहज हो सकती है, परन्तु जिसमें दोष प्रत्यक्ष दीखते हों, उसकी भक्ति करने का भाव तो कैसे हो सकता है ?

तृप्ति : जहाँ दोष दीखते हैं वहाँ भक्ति का उत्साह नहीं होता, यह बात सत्य है, लेकिन जिन्हें साधर्मिक वात्सल्य आदि आचारों का पालन करना है, वे सामनेवाले व्यक्ति के दोषों को नहीं देखते और दिख भी जाएँ तो उनको महत्त्व नहीं देते, क्योंकि वे समझते हैं कि जिसके साथ धर्म करना है, वैसे साधर्मिक हमेशा छद्मस्थ अवस्थावाले होते हैं । यह अवस्था ही

---

17. वात्सल्यं समानधार्मिकप्रीत्युपकारकरणम् । - द. वै. सूत्र की हारिभद्रीयवृत्ति
'वत्सः एव वत्सलः तस्य भाव इव भावः यस्मिंस्तत् वात्सल्यम् ।' 'वत्सः' शब्द में स्वार्थक 'ल' लगा है । पुत्र वाचक वत्सल शब्द में भाव का आधान करने 'य' प्रत्यय लगाया है ।

दोषवाली होती है । उसमें दोष होना सहज है । जिस तरह गुलाब को चाहनेवाला कांटें की उपेक्षा करे, तो ही गुलाब का आनंद पा सकता है, वैसे ही दोष की उपेक्षा कर छोटे से छोटे भी गुण को अगर प्राधान्य दिया जाए तो ही साधर्मिक के प्रति भक्ति भाव प्रकट हो सकता है ।

पुण्योदय से गुणवान साधर्मिक का योग होने पर भी जो गुणवान् में रहे हुए किसी एक दोष को नहीं पचा सकते, मान, लोभ, अज्ञान, प्रमाद आदि के कारण उसकी भक्ति नहीं करते, वे दर्शनाचार की आराधना से वंचित रह जाते हैं।

८. पभावणे अट्ठ - धर्म कथा आदि द्वारा जैन शासन की प्रख्याति-प्रसिद्धि करना 'प्रभावना'[18] नाम का आठवाँ दर्शनाचार है ।

प्रकृष्ट भावना या प्रकर्षवाली भावना को प्रभावना कहते हैं । जिस प्रवृत्ति द्वारा लोगों में धर्मभावना प्रगट हो, लोग धर्म करने की वृत्तिवाले हों एवं उनकी धर्मभावनाएँ प्रकृष्ट हों, वैसी प्रवृत्ति को 'प्रभावना' नाम का दर्शनाचार कहते हैं। विशिष्ट शक्तिशाली साधक धर्मकथा[18a] करके अनेक जीवों को धर्म की तरफ आकर्षित करते हैं । इसके अतिरिक्त मिथ्यामति वालो के साथ चर्चा में जीतकर, विशिष्ट तप की आराधना करके तथा ज्ञान, विद्या या मंत्र आदि द्वारा प्रभावक पुरुष अनेक आत्माओं में धर्म की भावना प्रकट कर सकते हैं एवं प्रकट हुई भावना को प्रबल बना सकते हैं । धर्मकथा आदि करने की जिसमें विशिष्ट शक्ति नहीं है, ऐसे श्रावक भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार उदारतापूर्वक यात्रा, पूजा वगैरह श्रावकजन उचित अनुष्ठान विधिपूर्वक करके भी 'प्रभावना' नामक इस दर्शनाचार का पालन कर सकते हैं । इस प्रकार अन्य के मन में धर्म के प्रति रुचि पैदा

---

18. प्रभावना-धर्मकथादिभिस्तीर्थख्यापना। - द. वै. सूत्र की हारिभद्रीय वृत्ति

18A पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्ञा-सिद्धो अ कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया ।।
प्रावचनिक, धर्मकथन करनेवाला, वादी, नैमित्तिक, तपस्वी, विद्यावान, सिद्ध और कवि यह आठ प्रकार के प्रभावक कहे गये हैं - सम्यक्त्व सप्तति - ३२.

करवाने से धर्मप्राप्ति में बाधक बननेवाले अपने कर्म नाश होते हैं एवं धर्म सुलभ बनता है । शक्ति होते हुए भी कृपणता आदि दोषों के कारण जो शासन की प्रभावना के लिए यत्न नहीं करते, वे दर्शनाचार की आराधना से चूक जाते हैं ।

आठ प्रकार के दर्शनाचार का जो पालन करता है, उसके मिथ्यात्व मोहनीय कर्मों का नाश होता है, उसे निर्मल सम्यग्दर्शन नामक गुण की प्राप्ति होती है तथा प्राप्त हुआ यह गुण विशेष शुद्ध बनता है ।

इन आठ आचारों में प्रथम चार आचार खुद के सम्यग्दर्शन की दृढ़ता के लिए है एवं बाद के चार आचार अन्य को गुण प्राप्ति एवं दृढ़ता दिलाने के लिए है । प्रथम चार आचारों का यथायोग्य पालन करने के लिए जैसे विचारशीलता चाहिए, वैसे बाद के चार आचारों के पालन करने के लिए विचारशीलता के साथ विशिष्ट शक्ति एवं उदारता आदि गुण होना जरुरी है ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए,

"सच में सम्यग्दर्शन नहीं होने के कारण ही मैं अनादिकाल से इस संसार में भटक रहा हूँ । सम्यग्दर्शन तो मुझ में नहीं है, परन्तु उसे प्राप्त करवानेवाले आचार भी मुझ में नहीं हैं । सुंदर मन पाया है, उसमें पूरी दुनिया के बारे में मैं सोचता हूँ, परन्तु आत्मादि तत्त्व के बारे में सोचता ही नहीं तो निःशंकादि आचार का पालन कैसे होगा । शायद इस भव में मैं विशेष ज्ञान न पा सकूँ, शायद विशेष चारित्र का पालन भी न कर सकूँ, परन्तु प्रभु ! मुझ में आप के वचनों के प्रति आदर प्रकट हो, उसमें अडिग विश्वास आए, कभी मेरा मन शंका, कांक्षा में अटक न जाए, जिससे स्वयं तो श्रद्धा संपन्न बनूँ एवं अन्य को भी दृढ़ श्रद्धावान बनाने का प्रयत्न करूँ, इतना आप से मांगता हूँ ।"

अवतरणिका :

दर्शनाचार के बाद अब क्रम से आने वाले चारित्राचार को बताते हैं :

गाथा :

पणिहाण-जोग-जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ।।४।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु प्रणिधान-योग-युक्तः ।
एष अष्टविधः चारित्राचारः ज्ञातव्यो भवति ।।४।।

गाथार्थ :

पाँच समिति एवं तीन गुप्ति संबंधी प्रणिधान योग से युक्त अर्थात् मन की स्वस्थतापूर्वक का यह चारित्राचार आठ प्रकार का जानना ।[19]

विशेषार्थ :

आत्म भाव में स्थिर होना चारित्र[20] है अथवा एकत्रित किए हुए कर्मों को खाली करना, अथवा भगवान के वचन द्वारा मोक्षमार्ग को समझकर, उसमें अडिग श्रद्धा पैदा करके, उस मार्ग पर चलना चारित्र[21] है । यह चारित्र देशचारित्र एवं सर्व चारित्र के भेद से दो प्रकार का है । उनमें सर्वचारित्र हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का सर्वथा त्यागरूप पाँच महाव्रतों का पालन है, जब कि देशचारित्र हिंसादि पापों का अंश से त्यागरूप अणुव्रतादि का पालन है । इन

---

19. यह गाथा दशवैकालिक सूत्र की श्री भद्रबाहुस्वामी रचित निर्युक्ति की गाथा-१८५ है । हरिभद्रीय वृत्ति में उसकी छाया दो तरीके से की गई है : एक जिस तरीके से उपर की गई है वैसी एवं दूसरी इस तरीके से :
पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिश्च गुप्तिभिः प्रणिधानयोगयुक्तः
पाँच समिति एवं तीन गुप्ति द्वारा प्रणिधान योग से युक्त व्यापार वह चारित्राचार है ।
20. चारित्रं स्थिरतारूपम् -
21. 'चा (चय)' - एकत्रित किया हुआ 'रिक्त' खाली करना । संचित कर्म को खाली करने की क्रिया चारित्र है ।

दोनों प्रकार के चारित्र के पालन, पोषण एवं संवर्धन के लिए प्रणिधान से युक्त[22] याने कि मन की स्वस्थतापूर्वक पाँच समिति एवं तीन गुप्ति से युक्त किया हुआ व्यापार आठ प्रकार का चारित्राचार है । चारित्र आत्मभाव में स्थिर होनेरूप या आत्मानंद की प्राप्तिरूप है । चित्त की स्वस्थता के या मन की एकाग्रता के बिना आत्मभाव में स्थिर होना सम्भव नहीं है । आत्मभाव में स्थिर हुए बिना आत्मा के आनंद की अनुभूति नहीं होती । इसलिए प्रणिधान योग से युक्त=चित्त की स्वस्थता से युक्त समिति गुप्ति की प्रवृत्ति को ही चारित्राचार कहते हैं ।

चारित्राचार की इस व्याख्या के अनुसार निश्चित होता है कि, चारित्र मात्र क्रियारूप नहीं, परन्तु समिति गुप्ति की हर एक क्रिया के माध्यम से आत्मा में स्थिर होकर, **आत्मा के आनंद का अनुभव करने रूप है ।** संयमजीवन की कोई भी क्रिया हो, चाहे वह चलने की हो या बोलने की, आहार ग्रहण की क्रिया हो या मलविसर्जन की, संयमजीवन में उपयोगी वस्त्र-पात्र लेने-रखने की क्रिया हो - ये सब क्रियाएँ आत्मभाव में स्थिर होने के लिए हैं । इस लिए संयम जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति को मन की चंचलता दूर करके चित्त की स्वस्थता से करनी अत्यंत जरूरी है । इस तरीके से करने से ही यह प्रवृत्ति चारित्राचाररूप बनती है । मन की चंचलता को दूर किये बिना की हुई काया की प्रवृत्तियाँ एक तरह की कवायत बनती है, उससे थोडे पुण्य का बंध होता है, परन्तु विशिष्ट कर्म निर्जरा या आत्मिक आनंद तक नहीं पहुंचा जा सकता ।

जिज्ञासा : चित्त की स्वस्थतापूर्वक की हुई प्रवृत्ति ही चारित्राचार कहलाती है, यह सत्य है, परन्तु चित्त स्वस्थ करने के लिए क्या करना चाहिए ?

तृप्ति : मन की चंचलता का मुख्य कारण वैषयिक तथा काषायिक वृत्तियाँ एवं वस्तु या व्यक्ति के प्रति रागादि अशुभ भाव हैं । ऐसी वृत्तियाँ नियंत्रण में आएँ एवं इन रागादि भावों की अल्पता हो, तो मन स्वस्थ रह सकता

22. प्रणिधानं-चेतःस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगाः व्यापारास्तैर्युक्तः समन्वितः प्रणिधानयोगयुक्तः ।
- द. वै. हारिभद्रीय वृत्ति

है । इसलिए रागादि को अल्प करने के लिए रागादि के विपाक कैसे हैं, यह गुरु भगवंत से विनयपूर्वक समझने चाहिए । समझने के बाद संसार में रागादि के बंधन में फँसे हुए जीवों का जो बुरा हाल होता है, प्रिय पात्र की उपस्थिति में उनकी उत्सुकता तथा व्याकुलता एवं अनुपस्थिति में उनकी जो शोकातुर एवं उदासीन मनःस्थिति होती है, उसके बारे में सोचना चाहिए । रागादि के अधीन बन कर बांधे हुए कर्मों के कारण जीवों को भवांतर में भी कैसी कैसी पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती हैं, उसका शास्त्रवचनानुसार चिंतन करना चाहिए; इस तरह रागादि की प्रतिपक्षी भावनाओं द्वारा मन को भावित करके, रागादि एक एक कषाय को पहचानकर एवं उससे दूर रहने के लिए मन को पहले से ही तैयार करना चाहिए, तभी निर्बल निमित्तों के बीच भी चित्त स्वस्थ रह सकता है ।

चित्त की स्वस्थतापूर्वक समिति-गुप्ति के पालनरूप जो चारित्राचार है, उस में समिति का अर्थ है सम्यग् प्रकार की प्रवृत्ति एवं गुप्ति का अर्थ है निवृत्ति ।

१. किसी भी जीव को मुझ से पीडा न हो जाए ऐसे परिणामपूर्वक, बैलगाडी के धुरा प्रमाण अर्थात् ३$^{१}/_{२}$ हाथ भूमि को देखकर, अचित्त भूमि के उपर चलना **ईर्या समिति** है ।

२. मेरी वाणी से किसी को पीड़ा न हो ऐसे भावपूर्वक सोचकर हित, मित एवं प्रिय बोलना **भाषा समिति** है ।

३. संयमजीवन के लिए उपयोगी आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, वसति आदि निर्दोष (४२ दोष रहित) ग्रहण करने की क्रिया **एषणा समिति** है ।

४. किसी भी जीव को किलामणा (पीड़ा) दुःख न हो इस प्रकार की दृष्टि से देखकर, रजोहरण वगैरह से पूंजकर (हलके से झाडकर) संयमजीवन में उपयोगी चीजों को लेने (रखने) की क्रिया **आदानभण्डमत्तनिक्खेवणा समिति** है।

५. संयम जीवन के लिए अनावश्यक चीजों को शुद्ध, निर्दोष भूमि में वोसिराने = त्यागने की क्रिया को **पारिष्ठापनिका समिति** कहते हैं ।

६-७-८. मन-वचन काया को अशुभ भाव में जाने से रोककर, शुभ भाव में स्थापित करना अथवा सर्वथा उनको कहीं जाने न देना, मन-वचन-काया की गुप्ति है ।

ये पाँच समिति एवं तीन गुप्ति साधुओं के चारित्ररूपी शरीर को माता के समान जन्म देकर पालन करनेवाली होने से और उनकी अशुद्धियों को दूर करके उनको स्वच्छ-निर्मल रखनेवाली होने से, शास्त्रों में उनको अष्ट प्रवचन-माता[23] के रूप में बताया गया है ।

सर्वविरतिधर आत्माओं को तो प्रतिक्षण इन आठ प्रवचन माताओं का पालन करना होता है । उसके द्वारा ही उनका चारित्र जीवंत रहता है । देशविरतिवाले श्रावकों को इन अष्ट प्रवचन माता का पालन मुख्य रूप से सामायिक एवं पौषध में करना है । उसके सिवाय भी श्रावक को अपनी सर्वप्रवृत्ति में जयणा को प्रधानता देनी है । निरर्थक हिंसादि पाप न हो जाए उसका खास खयाल रखना है । ऐसी प्रवृत्ति से ही देशविरति का परिणाम वृद्धिमान होता है एवं अंत में सर्वविरति के लिए वह जीव सक्षम बन सकता है ।

इस गाथा को बोलते हुए साधक सोचता है,

'भगवान के शासन का संयम एवं उसकी प्राप्ति का मार्ग कितना सुंदर है ! मन को एकाग्र करके समिति-गुप्ति रूप इन आचारों का पालन करूँ, तो मोक्ष का आंशिक सुख आज यहीं पा सकूँ । तो भी विषय कषाय की ये पराधीनता कैसी है ? नहीं तो सुविशुद्ध भाव से संयम का स्वीकार होता है और न तो चारित्र के आचारों का यथायोग्य पालन होता । अब दृढ़ संकल्प करके एकाग्रतापूर्वक समिति गुप्ति का पालन करके मैं संयम गुण को प्रगट करूं एवं यहीं आत्मानंद का अनुभव करूँ ।'

---

23. एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात् परिपालनात् ।
संशोधनाच्च साधूनां, मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता ।। - योगशास्त्र - ४६
समिति-गुप्ति की विशेष समझ के लिए सूत्र संवेदना भाग १ में पंचिदिय सूत्र देखें ।

अवतरणिका :

अब चारित्राचार के वर्णन के बाद तपाचार का वर्णन करते हैं –

गाथा :

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतर-बाहिरे कुसल-दिट्ठे ।
अगिलाइ अणाजीवी नायव्वो सो तवायारो ।।५।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

कुशलदिष्टे, साभ्यन्तर-बाह्ये, द्वादश-विधे अपि तपसि ।
अग्लान्या अनाजीविकः (यो आचारः) स तपाचारः ज्ञातव्यः ।।५।।

गाथार्थ :

कुशल पुरुषों द्वारा अर्थात् जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट अभ्यंतर एवं बाह्य भेदवाले बारह प्रकार के तप में ग्लानि के बिना एवं आजीविका की इच्छा के बिना किया हुआ आचार तपाचार जानना ।

विशेषार्थ :

सर्व दुःख की मूल इच्छाएँ हैं एवं इच्छाओं का सर्वथा अभाव परम सुख है। प.पू. हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा ने पंचसूत्र में तो अनिच्छा को ही मोक्ष कहा है । निरंतर सक्रिय इच्छाओं को रोकने के लिए जो अंतरंग प्रयत्न किया जाता है, उसे अभ्यंतर तप कहते हैं एवं आहार त्यागादि रूप जो बाह्य प्रयत्न किया जाता है, उसे बाह्य तप कहते हैं ।

दूसरे तरीके से सोचें तो कर्म के संबंध के कारण जीव संसार में सतत परिभ्रमण करते रहते हैं, इन कर्मों को आने से रोकना संवर है एवं आए हुए कर्मों को दूर करना निर्जरा है । इस संवर और निर्जरा का परिणाम आंतरिक तप है एवं उनके लिए किया गया बाह्य आचरण बाह्य तप है ।

इसके अतिरिक्त राग एवं द्वेष के द्वंद्व जीव को सतत परेशान करते हैं । इन रागादि भावों से अलग होकर समता के भावों में जीव को स्थापित करने हेतु

जो अंतरंग यत्न होता है, वह अंतरंग तप है एवं जो बाह्य प्रयत्न होता है, वह बाह्य तप है ।

संक्षेप में इच्छाओं को रोककर, संवर भाव को प्राप्त करके, समता योग को साधकर आत्मगुण में रहना, आत्मभाव में रमण करना, निश्चय से तप नाम का गुण है । इस गुण को प्राप्त करने के लिए जो आचरण किया जाता है, उसे तपाचार कहते हैं ।

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतर-बाहिरे कुसल-दिट्ठे[24] - कुशल पुरुषों द्वारा बताए हुए बारह प्रकार के अभ्यंतर एवं बाह्य तप में, (हुई प्रवृत्ति तपाचार है ।)

अनादिकाल से आहार संज्ञा के अधीन बनकर, मन एवं इन्द्रियों के वश में होकर जीव ने अनंत कर्म बांधे हैं । बंधे हुए कर्मों से मुक्त होने के लिए कुशल दृष्टिवाले सर्वज्ञ भगवंतों ने तप धर्म बताया है ।

रसादि धातुएँ तथा कर्म जिसके द्वारा तपे, उसे तप[25] कहते हैं अथवा जिससे इच्छाओं का निरोध हो, समता का प्रादुर्भाव हो एवं आत्म भाव में आनन्द हो, उसे तप[26] कहते हैं । यह तप दो प्रकार का है : (१) बाह्य तप एवं (२) आभ्यंतर तप । उसमें अनशन आदि छः प्रकार का बाह्य तप है । इस तप को बाह्य दृष्टि से देख सकते हैं । इस तप को करनेवाले को लोग तपस्वी कहकर आदर देते हैं । इसके अलावा यह तप बाह्य शरीर आदि को शोषण करने का कार्य करता है, इसलिए इसे बाह्य तप[27] कहते हैं ।

---

24 . कुशलेन दिष्टमिति कुशलदिष्टं तस्मिन् - कुशल ऐसे जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट बारह प्रकार का तप

25. तप्यतेऽनेन देहकर्मादीति तपः,
रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज़ा-शुक्राण्यनेन ताप्यन्ते ।
कर्माणि चाशुभानीत्यतस्तपो नाम नैरुक्तम् ।।१।। - आचार प्रदीप

26. इच्छारोधे संवरी, परिणति समता योगे रे,
तप ते एहीं ज आतमा, वर्ते निज गुण भोगे रे । - उ. यशोविजयजी कृत नवपद की पूजा

27. मिथ्यादृष्टिभिरपि क्रियमाणत्वेन, क्रियमाणं चर्मचक्षुदृश्यमाणत्वेन बाह्यमौदारिकशरीरशोषकत्वेन च बहिर्भवं तपः । - शांत सुधारस टीका

प्रायश्चित्तादि छः प्रकार के आभ्यंतर[28] तप हैं । ये तप सामान्य तरीके से तप के नाम से प्रसिद्ध नहीं हैं । इसे करनेवाले को बाह्य दृष्टि से कोई तपस्वी नहीं कहता । इस तप से शरीर कृश हो जाए यह जरूरी नहीं । जैनशासन को विशेष प्रकार से समझे हुए विवेकी आत्मा यह तप कर सकते हैं । यह तप अंतरंग तौर से कार्मण शरीर को तपाता है एवं निर्जरारूप फल देनेवाला है, इसलिए उसे आभ्यंतर तप कहते हैं ।

अगिलाइ अणाजीवी नायव्वो सो तवायारो - (इन बारह प्रकार के तप में) ग्लानि रहित एवं आजीविका की इच्छा के बिना किया हुआ आचरण तपाचार है।

इन बारह प्रकार के तपों में कुछ तप ऐसे हैं, जिनका आचरण शरीर को ठीक रखने के लिए भी किया जाता है, या मान-सन्मान आदि की इच्छा से भी कई बार तप किया जाता है; परन्तु इस प्रकार किए हुए तप के आचरण को तपाचार नहीं कहते । तपाचार तो उसे कहते हैं, जो अपनी शक्ति का विचार कर, अन्य किसी भी धर्मकार्य में कमी न आए और मन में कोई खराब भाव न उत्पन्न हो उस तरह मात्र कर्मनिर्जरा[29] के हेतु से किया जाता हो ।

अगिलाइ - ग्लानि बिना, चित्त की प्रसन्नतापूर्वक ।

थकान, ऊब, अनुत्साह या नाराजगी जैसी किसी शारीरिक या मानसिक शिथिलता के भाव को ग्लानि कहते हैं । ऐसी ग्लानि के बिना, चित्त की प्रसन्नता से, उत्साह एवं आनंद से जो तप किया जाता है, उसे अग्लान तप कहते हैं ।

स्वशक्ति का विचार करके तप धर्म का प्रारंभ करने के बाद कभी भूख-प्यास आदि की वेदना बढ़ जाए तब भी अग्लान तप करने की भावनावाले साधक को मुरझाया हुआ मुख नहीं बनाना चाहिए । अपने मुख को म्लान होने

28. आभ्यन्तरं चर्मदृगदृश्यं, निर्जराफदं, कार्मणशरीरदाहकं, जैनशासने सम्यग्दृल्लिभिरेव क्रियमाणत्वादन्तरंगं तपः । - शांत सुधारस टीका

29. केवनिर्जरारूपाय श्री सम्यक् तपसे नमः स्वाहा । - सिद्धचक्र महापूजन

से रोकना चाहिए, या यह तप कब पूरा होगा वैसा भाव भी नहीं आने देना चाहिए । इसके लिए **'देहदुःखं महाफलं'** जैसे अनेक शास्त्र प्रचनों का सहारा लेकर साधक को सोचना चाहिए कि, "आज तक शरीर की अनुकूलताओं को पूरी करने के लिए मैंने बहुत से कर्म बांधे हैं, देह के ममत्व के कारण बहुतों को कष्ट दिया है, इस देह को कष्ट देकर अब तो कर्म नाश करने का अवसर आया है, देह के ममत्व को दूर करने का यह समय है, जड़ के प्रति आसक्ति को तोड़ने का यह मौका है । मैं आत्मा हूँ, अनंत शक्ति का स्वामी हूँ, ज्ञान मेरा गुण है, आनंद मेरा स्वभाव है । इस स्वभाव का अनुभव करना मेरा धर्म है । क्षुधा-तृषा यह तो शरीर का धर्म है । शरीर की ममता के कारण आज क्षुधा आदि की वेदना मुझे शरीर की नहीं, परन्तु मेरी खुद की लगती है । वास्तव में इस भूख-प्यास को सहन करते हुए अगर शरीर की ममता टूट जाए एवं समता भाव की प्राप्ति हो जाए तो यह दुःख तो क्या, अनंतकाल का अनंत दुःख भी नाश हो जाएगा। इसके अलावा, इस क्षुधादि का दुःख मैंने कर्मनिर्जरा करने के लिए स्वाधीनता से स्वीकार किया है । इस तप से तो मेरे बहुत सारे कर्म नाश हो जाएँगे । इससे कई ज्यादा क्षुधा एवं तृषा को पराधीनता से मैंने नरक एवं तिर्यंच की गति में अनंतकाल तक सहन किया है । अल्पकाल के लिए प्रभु की आज्ञा के अनुसार स्वयं इस क्षुधा-तृषा को स्वीकार कर मैं सहन कर लूँ, तो मेरे बहुत से कर्म नष्ट हो जाएँगे, मेरा कल्याण हो जाएगा ।"

ऐसे विचारों के कारण शरीर में जैसे जैसे कष्ट बढता जाता है, वैसे वैसे तप के कष्ट में कर्म निर्जरारूप कमाई का दर्शन होता जाता है, जिसके कारण तप धर्म के आराधक का चित्त बहुत प्रसन्न होता जाता है । इस प्रकार चित्त की प्रसन्नतापूर्वक किए हुए तप को अग्लानि से किया हुआ तप कहते हैं, परन्तु जो व्यक्ति शक्ति का विचार किए बिना प्रथम तप धर्म स्वीकार लेता है एवं बाद में 'यह तप कब पूरा होगा' ऐसे विचार से अधीर बनकर बेगार नौकर की तरह, जैसे-तैसे तप पूरा करता है तो उसका वैसा तप 'अग्लान'[30] तप नहीं कहलाता।

30. अग्लान्या न राजवेष्टिकल्पेन यथाशक्त्या वा । - द. वै. हारिभद्रीय वृत्ति

अणाजीवी - आजीविका की या मान सम्मान की इच्छा रखे बिना ।

जीवन जीने के लिए जरूरी बाह्य सामग्री, मान-सम्मान या इहलोक-परलोक के सुख की इच्छा 'आजीविका' है । ऐसी इच्छा के बिना किया हुआ तप 'अनाजीवी' तप कहलाता है । तप करने के बाद, "मैंने यह तप किया है, इसलिए मेरा ऐसा सम्मान होना चाहिए या उत्तम वस्त्र, पात्र से मेरी भक्ति होनी चाहिए," ऐसी कोई इच्छा-अपेक्षा रखना आजीविका की इच्छारूप है । ऐसी इच्छा से तप किया जाए तो शायद वह वस्तु मिल भी जाए, परन्तु निर्जरारूप महाफल से जीव वंचित रह जाता है । इसलिए तप करते वक्त मान, सम्मान या सत्कार आदि की कोई इच्छा न करते हुए साधक को मात्र ऐसी भावना करनी चाहिए कि - इस तप की इस प्रकार आराधना करूँ कि मेरे क्लिष्ट कर्म नष्ट हों जाए एवं मेरी आत्मा अधिक निर्मल-निर्मलतर बनकर सर्व सुख की शीघ्र भोक्ता बने । ऐसी भावना से अन्य फल की इच्छा से रहित एवं मात्र निर्जरा की भावना से किया हुआ तप 'अनाजीविक'[31] तप कहलाता है ।

'ज्ञानसार' नामक ग्रंथ में महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजा ने तप[32] की सुंदर व्याख्या की है : **"वैसा ही तप करना चाहिए कि जिसमें दुर्ध्यान न हो, जिसके कारण धर्मकार्य में कमी न आए एवं इन्द्रियों की हानि न हो ।"**

इस तरीके से भगवान के वचन को सोच-समझकर अगर तप धर्म का यथाशक्ति आदर किया जाए, तो कष्टकारी तप में भी ग्लानि नहीं होती, बल्कि चित्त की प्रसन्नता बनी रहती है, मन को शांति मिलती है, इन्द्रियाँ अंकुश में

---

31. अनाजीविको - निःस्पृहः फलान्तरमधिकृत्य । - द. वै. हारिभद्रीय वृत्ति

32. तदेव हि तपःकार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ।। - ज्ञानसार
तं तु तपो कायव्वं जेण जिओऽमंगुलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा ण हायंति ।। - यतिदिन चर्या-२३

रहती हैं, आध्यात्मिक चिंतन का सुंदर अवसर मिलता है एवं परिणाम स्वरूप उस तप के समय अपूर्व आनंद का अनुभव होता है ।

आहारादि संज्ञा को तोड़ने एवं कर्म क्षय के उद्देश्य से जो तप करते हैं, उनको दुर्ध्यान की संभावना नहीं रहती । शरीर के ममत्व को तोड़ने के उद्देश्य से जो तप करते हैं, उनकी धर्म क्रिया में कभी ओट नहीं आती एवं खुद की शक्ति का विचार करके जो तप धर्म का प्रारंभ करते हैं, उनको इन्द्रियों की हानि का प्रश्न नहीं रहता ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

"भगवान के शासन में मात्र भूखा रहने को तपाचार नहीं कहा, परन्तु उत्साहपूर्वक, किसी भी प्रकार के भौतिक सुख की अपेक्षा के बिना, कर्म निर्जरार्थ, आत्म कल्याण के लिए किया हुआ तप ही तपाचार कहलाता है । इसलिए अन्य किसी भी इच्छा से तप हुआ हो तो वह मेरे लिए तपाचार में अतिचार स्वरूप है एवं शक्ति होते हुए भी अगर तपादि में प्रयत्न न किया हो तो वह भी अतिचार है । ऐसे अतिचार को याद करके, प्रतिक्रमण करते समय उसकी माफी मांगकर, उससे वापिस लौटने का मैं संकल्प करता हूँ ।"

अवतरणिका :

तप की सामान्य बातें करने के बाद अब बाह्य तप का वर्णन करते हुए कहते हैं :-

गाथा :

अणसणमूणोअरिआ, वित्ती-संखेवणं रस-च्चाओ ।
काय-किलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ।।६।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

अनशनम् ऊनोदरिका, वृत्ति-संक्षेपणं रस-त्यागः ।
काय-क्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपः भवति ।।६।।

गाथार्थ :

अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, काय-क्लेश संलीनता : ये छः प्रकार के बाह्य तप हैं ।

विशेषार्थ :

१. अणसणं - देश से या सर्व से आहार का त्याग करना 'अनशन' नाम का प्रथम बाह्य तप है ।

मुमुक्षु आत्मा समझता है कि आहार लेना उसका स्वभाव नहीं, तो भी आत्मा जब तक शरीर के साथ संलग्न है, तब तक साधना में सहायक शरीर को टिकाने के लिए आहार की जरूरत पड़ती है । अनादि अभ्यस्त 'आहार संज्ञा'[33] के कारण आहार लेते समय राग-द्वेष के परिणाम प्रकट होते हैं । प्रकट हुए इस राग-द्वेष के भाव से बचने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न द्वारा आहार का त्याग करना उचित है ऐसा विचार कर सर्वथा या आंशिक तौर से आहार का त्याग करने की क्रिया को अनशन तप[34] कहते हैं ।

अनशन तप दो प्रकार का होता हैं : यावत्कथिक एवं इत्वरकथिक[35] जिसमें जीवन पर्यंत आहार का त्याग करना होता है, उसे यावत् कथिक अनशन

33. संज्ञा अर्थात् समझ, अभिलाषा वगैरह अर्थात् अनादिकाल से आत्मा को लगा हुआ पौद्गलिक वासनाओं का बल । उसके चार प्रकार हैं - १. क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से होनेवाली आहार की अभिलाषा 'आहार संज्ञा' है - २. भय मोहनीय कर्म के उदय से भय लगे तो वह 'भय संज्ञा' है - ३. वेद मोहनीय कर्म के उदय से मैथुन की अभिलाषा जागे वह मैथुनसंज्ञा एवं ४. तीव्र लोभ के उदय से जड पदार्थों में मूर्च्छा (ममत्व) 'परिग्रह' संज्ञा कहलाती है ।

34. न अशनम् अनशनम् आहारत्याग इत्यर्थ - - द. वै. निर्युक्ति गाथा ४० की हारिभद्रीय वृत्ति

35. इत्वरं - परिमितकालं, तत्पुनश्चरमतीर्थकृत्तीर्थे चतुर्थादिषण्मासान्तम् यावत्कथिकं त्वाजन्मभावि ।

तप कहते हैं । उसके तीन प्रकार हैं[36] १. पादपोपगमन २. इंगिनीमरण ३. भक्तपरिज्ञा । सत्त्व हीनता के कारण इस काल के (वर्तमान काल के) जीवों के लिए शास्त्र में इन तीन प्रकार के अनशनों का निषेध किया गया है, परन्तु जब यह तप किया जाता था, तब भी इसे स्वीकारने से पहले आत्मा को श्रुत द्वारा, सत्त्व द्वारा एवं एकत्व भावना द्वारा बहुत भावित करने का विधान था । भावित होते हुए जब लगे कि आहार के बिना भी किसी भी प्रकार के विघ्नों के बीच मन समाधि में रहने के लिए समर्थ बन गया है, तभी इन तपों को स्वीकारने की अनुमति दी जाती थी ।

आहार का सर्वथा त्याग जब तक न हो सके, तब तक थोड़े समय के लिए भी आहार का त्याग करना इत्वरकथिक अनशन तप है । वह भी सर्व से एवं देश से ऐसे दो प्रकार का है । उसमें चारों प्रकार का आहार का त्यागवाला चोविहार उपवास, छट्ठ, अट्ठम वगैरह सर्व से इत्वरकालिक अनशनरूप है एवं एकासणा, बियासणा आदि देश से इत्वरकालिक अनशन कहा जाता है । इत्वर कालिक अनशन नवकारसी के पच्चक्खाण से लेकर छः महिने के उपवास तक

36.(१) पादपोपगमन (२) इंगिनीमरण (३) भक्तपरिज्ञा -

१. जीवन के अंतकाल में प्रथम संघयणवाले साधक देवगुरु को वंदन कर उनके पास अनशन स्वीकार कर, पर्वत की किसी गुफा में आँख की पलक भी हिले नहीं इस प्रकार संपूर्ण तौर से निश्चेष्ट बनकर प्रशस्त ध्यानपूर्वक प्राणांत तक वृक्ष की तरह स्थिर रहते हैं, उस प्रकार के अनशन को **'पादपोपगमन'** अनशन कहते हैं ।

२. पादपोपगमन अनशन स्वीकार कर सके ऐसा संघयण बल न हो तब किसी निश्चित किये हुए प्रदेश में चार प्रकार के आहार का त्यागकर स्वयं ही उद्‌वलन (करवटे बदलना) आदि क्रिया करके प्राणांत तक अनशन स्वीकार करने को **'इंगिनी मरण'** नाम का अनशन कहते हैं ।

३. गच्छ में रहे हुए साधु कोमल संथारे के उपर, शरीर, उपकरण वगैरह की ममता को त्याग कर, चार अथवा तीन आहारों का त्याग कर, स्वयं नमस्कार आदि के ध्यान में स्थिर होकर अथवा अन्य से नमस्कार आदि सुनकर मन को आत्म भाव में स्थिर कर, समाधिपूर्वक मरण को स्वीकार करते है उसे **'भक्तपरिज्ञा'** नाम का अनशन कहते हैं । इन तीन प्रकार के अनशन की विशेष समझ गुरु समागम से प्राप्त करनी चाहिए ।

- द. वै. हारि० वृत्ति तथा आचारप्रदीप

अनेक प्रकार[37] का होता है । इसके अलावा भी अनेक प्रकार से सांकेतिक पच्चक्खाण रूप अनशन हो सकता है, जैसे कि 'मुट्ठीबंध कर नवकार गिनकर, मुट्ठी न खोलने तक आहार का त्याग' वगैरह ।

२. ऊणोअरिआ - पेट भर कर नहीं खाना ।

अनशन नामक तप पूर्ण होने के बाद जब साधना के लिए उपयोगी शरीर को टिकाने के लिए आहार करना पड़े, तब जितना हो सके उतना कम आहार लेना 'ऊनोदरी' नाम का दूसरे प्रकार का बाह्य तप है । अनशन में आहार का त्याग है जब कि ऊनोदरी में खाना खाकर भी भूखे रहने की बात है।

साधना के लिए जब आहार की आवश्यकता पड़े, तब अगर पेट भरकर, दबा दबाकर खाया जाए तो धर्मकार्य में आलस आता है, एवं शरीर में जड़ता आती है । इसलिए शास्त्रों में अपनी सामान्य खुराक से जितना बन सके, उतना कम आहार-पानी लेने रूप उनोदरी नाम के तप का वर्णन किया गया है । यह तप करने से आहार संज्ञा जीती जाती है एवं योग साधना में उद्यमशील रह सकते हैं ।

सामान्य से पुरुष का आहार ३२ कवल[38] एवं स्त्री का आहार २८ कवल का होता है । उसमें से एक-दो कवल कम करते करते ३१ कवल तक न्यून आहार करना, द्रव्य ऊनोदरी तप है एवं आहार लेते समय भी होनेवाले रागादि भावों को निरंतर कम करने का प्रयत्न करना या क्रोधादि कषायों को अल्प करने का प्रयत्न करना, भाव ऊनोदरी तप[39] है ।

---

37. अनशन तप के अनेक प्रकार पच्चक्खाण भाष्य में देखें ।

38. बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ ।
पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ।।१।।
कवलाए य परिमाणं, कुक्कुडि अंडयपमाणमेत्तं तु ।
जो वा अविगियवयणो, वयणम्मि छुहेज्ज वीसत्थो ।।२।। - द. वै. गा. ४० हारिभद्रीय वृत्ति
जितना खुराक मुंह से डालने के बाद मुंह की आकृति विकृत न बने उतनी खुराक को एक कवल कहते हैं अथवा मूर्गी के अंडे जितना १ कबल गिनना ।

39. कोहाइणमणुदिणं, चाओ जिणवयण भावणाउ अ ।
भावोणोदरिआ वि हु, पन्नता वीयराएहिं ।। - स्थानाङ्ग सूत्र-१८२ वृत्तौ

३. वित्तीसंखेवणं - वृत्ति संक्षेप

जिससे जीवन टिके, उसे वृत्ति कहते हैं । उसमें भोजन, जल वगैरह वस्तुओं का समावेश होता है । इस वृत्ति का द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से एवं भाव से संक्षेप-संकोच करना 'वृत्ति संक्षेप'[40] नाम का तीसरे प्रकार का बाह्य तप है । ऊनोदरी व्रत करनेवाला साधक सोचता है कि, "जितने द्रव्य अधिक लूँगा, उतने में रुचि-अरुचि के परिणाम रूप रति-अरति तथा राग द्वेष की संभावना है । इसलिए यथा सम्भव कम द्रव्यों से आहार करूँ, जिससे रागादि से होनेवाली अनर्गल इच्छाओं के उपर अंकुश हो सके ।" इस प्रकार सोच कर जीव अपने खाने पीने की वस्तुओं का संक्षेप करे, तो वह वृत्ति संक्षेप तप होता है।

सर्वविरतिधर आत्माएँ उपकरण एवं आहार-पानी के विषय में, द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव के संबंधी जो नियम करते हैं या इतने ही द्रव्य, इतनी ही क्षेत्र में से, इतने काल में एवं वह भी इस प्रकार के भाववाला दाता दे तो ही ग्रहण करूँगा, उसके सिवाय ग्रहण नहीं करूँगा, वह भी वृत्ति संक्षेप तप है । जैसे भगवान महावीरस्वामी ने अभिग्रह ग्रहण किया कि - मुंडित मस्तकवाली, देहली में खड़ी हुई, हाथ-पैर में बेडी वाली, आँख में अश्रुजलवाली, तीन दिन की उपवासी, दासीपने को प्राप्त हुई कोई राजकन्या, सूप के कोने में रहे हुए आहार को भिक्षा का समय बीत जाने के बाद दे, तो ही मैं ग्रहण करूँगा । यह अभिग्रह वृत्ति संक्षेप नाम के तप का ही एक प्रकार है । मुनि भगवंतों को द्रव्यादि संबंधी नित्य नए नए अभिग्रह लेने का विधान है । जीत सूत्र नाम के आगम में तो यहां तक कहा है कि अगर मुनि नित्य नए-नए अभिग्रह धारण न करें, तो उसको प्रायश्चित्त[41] आता है ।

---

40. वृत्तिसंक्षेपो गोचराभिग्रहरूपो वृत्तिराजीविका स्वेच्छाभोगोपभोगोपयोगिवस्तुविषया तस्या ह्रासः परिमाणेन संक्षेपः । वर्तते ह्यनया वृत्तिः, भिक्षाशनजलादिका तस्याः संक्षेपणं कार्यं, द्रव्याद्यभिग्रहाश्चितैः । - आचारप्रदीप

41. पइदियहं चिय नव नवमभिग्गहं चिन्तयंति मुणिवसहा ।
जीअंमि जओ भणियं, पच्छित्तमभिग्गहाभावे ।।१।।

४. रसच्चाओ - रस त्याग - विगई का त्याग

रसयुक्त आहार का त्याग करना 'रसत्याग' नाम का तप है । जिससे रसना अर्थात् जीभ को संतुष्टि हो, उसकी आसक्ति का पोषण हो, वैसे आहार को रसवाला आहार कहते हैं । शास्त्रकारों ने रस के रूप में मुख्यत: दूध, दहीं, घी, तेल, गुड़ एवं कडाविगई (पकवान) इन छः विगइयों का उल्लेख किया है । इन छ विगइयों का संपूर्ण त्याग करना अथवा एक-दो-तीन आदि का त्याग करना 'रस-त्याग'[42] नामक तप है । इसके उपरांत मदिरा, मांस, मधु एवं मक्खन ये चार भी विगई हैं, जो महाविगई के नाम से जाने जाते हैं । प्रत्येक साधक को उसका सदा के लिए त्याग करना चाहिए ।

विगइयाँ जीभ को खुब अनुकूल लगनेवाली वस्तुएँ हैं, विगइयों के स्पर्श होने से या कभी तो मात्र उनको देखने से ही जीभ में पानी आ जाता है । बेकाबू बनी यह रसना कईबार विवेकहीन बना देती है एवं अधिक आहार करवाकर पेट एवं मन को बिगाड़ देती है । इसके अतिरिक्त विगइयों का सेवन करने से शरीर एवं इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप शरीर, मन एवं पाँचों इन्द्रियाँ अपने अपने विषय में विशेष प्रकार की प्रवृत्ति करती हैं । अनादि के संस्कार के कारण वैषयिक प्रवृत्ति जीव में रागादि भाव एवं विकार उत्पन्न करती है । विकृत हुई इन्द्रियाँ एवं मन जीव को कर्म बंध करवाकर दुर्गति में ले जाते हैं । इसलिए शास्त्रकार तो विगई को ही विकृति कहते हैं । वेश्या का सहवास जिस प्रकार जीवन को चौपट करता है, वैसे ही विगई का सहवास भी साधक के जीवन को बरबाद करता है । दुर्गति से डरनेवाला जो साधु विगई अथवा विगई से बने हुए पदार्थों को खाता है, उसे विकृति करवाने के स्वभाववाली विगई जबरदस्ती दुर्गति में ले जाती है ।[43] इन सब बातों का विशेष चिंतन

42 रसाः क्षीरादयस्तत्परित्यागस्तपः ।
रसानां - क्षीरदध्यादीनां विकारहेतुतया विकृतिशब्दवाच्यानां मद्यमांसमधुनवनीतानां दुग्ध-दधिधृत-तैल-गुडावगाह्यादीनां च यथाशक्ति सर्वेषां कियतां वा सर्वदा वर्षषण्मासी-चतुर्मास्याद्यवधि वा वर्जनम् । - आचार प्रदीप

43 विगइं विगईभीओ विगइगयं जो उ भुंजए साहू ।
विगई विगइसहावा, विगई विगइं बला नेइ ।।१।।
- पच्चक्खाण भाष्य गा. ४० निशिथभाष्य गा. १६१२

करके अधिक से अधिक प्रयत्न कर साधु एवं श्रावक को विगई का त्याग कर अवश्य रस त्याग करना चाहिए ।

उपर्युक्त चारों ही तप आहार के नियंत्रण के लिए हैं । आहार के नियंत्रण से रसना पर विजय प्राप्त होती है । उससे इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं । इन्द्रियों को जीतकर कषायों पर विजय प्राप्त करके एवं परिणाम स्वरूप कर्म का क्षय एवं उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है । इस प्रकार चारों तप मोक्ष के साथ संलग्न है ।

५. काय-किलेसो - काया को कष्ट देना (काया से सहन करना ।)

जिससे काया को कष्ट हो, वैसी कर्म क्षय के लिए की जानेवाली प्रवृत्ति को 'काय-क्लेश' तप कहते हैं । काया को सहनशील बनाने के लिए भगवान की आज्ञानुसार वीरासन, पद्मासन आदि आसनों का सेवन करना, आतापना लेना, केश का लोच करना, खुले पैर से विहार करना, जिनमुद्रा आदि मुद्रा में रहकर विविध प्रकार की क्रियाऐं करना, क्षुधा-पिपासा, रोग आदि परिषहों को शांति से समभाव सहित सहना, काय-क्लेश तप है ।

शरीर के ममत्व से मुक्त होना एवं मोक्ष मार्ग में विशेष प्रवृत्त होना, यह इस तप का हेतु है । इसलिए शरीर को स्वस्थ रखने एवं स्नायुओं को मजबूत बनाने के लिए जो योगासन वगैरह किए जाते हैं, उनका समावेश इस तप में नहीं हो सकता। इस तप में तो, कर्मोदय से किसी भी प्रकार की पीड़ा या आपत्ति आए तो भी समभाव (समाधि) टिकाए रखना, कर्मनिर्जरा की भावना से काया को कसने एवं कर्म के उदय के बिना भी कष्ट पैदा करके आनंदपूर्वक सहन करने का हेतु समाया है ।

इस तप का बारबार सेवन करने से अनेक तरह के लाभ होते हैं । मुख्यतया तो काया नियंत्रण में रहती है, काया के नियंत्रण से मन अपने आप नियंत्रण में आ जाता है और काया एवं मन के नियंत्रण से प्रत्येक क्रिया उपयोगपूर्वक होती है । इस से अन्य को भी शुभ भाव उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि उपयोगपूर्वक

क्रिया करनेवाले महात्माओं के दर्शन से भद्रिक एवं विवेकी आत्मा के अंतर में क्रियावान एवं क्रिया के प्रति बहुमान प्रकट होता है ।

इसके अतिरिक्त, शरीर के अनुकूल व्यवहार करने की बुरी आदत के कारण, शरीर के अनुकूल सामग्री में राग एवं प्रतिकूल सामग्री में द्वेष हो जाता है, परन्तु कायक्लेश द्वारा जब सहन करने की भावना से विविध क्रिया द्वारा शरीर का ममत्व घटता है, तब राग-द्वेष के भाव से अलग होकर समता की साधना कर सकते हैं ।

ऊपरी दृष्टि से लोच कराने में या कायक्लेश तप की अन्य क्रियाओं में कष्ट एवं पीड़ा दीखती है, तो भी बाल की देखभाल करने के लिए जो पानी वगैरह के जीवों को पीड़ा होती है, जीभ के स्वाद के लिए वनस्पति के जीवों का जो विनाश होता है, उसकी तुलना में यह पीडा कुछ भी नहीं । इस तपमें विषयों और देहादि के प्रति निर्ममभाव उत्पन्न होने से स्वभावप्राण की रक्षा के साथ-साथ अन्य जीवों पर दया का भाव भी रहता है ।

यहाँ यह खास ध्यान में रखना है कि मात्र कष्ट सहना 'कायक्लेश' तप नहीं, परन्तु **कर्मक्षय के हेतु से भगवान की आज्ञा समझकर स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन किया जाए, वह 'काय-क्लेश' तप है ।**

६. संलीणया य - एवं संलीनता ।

अनर्थकारी प्रवृत्तियों का त्याग करके मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रवृत्तियों में स्थिर होना 'संलीनता' नामक बाह्य तप है ।

अथवा

इन्द्रिय, कषाय एवं योगों को मोह के मार्ग से मोडकर, मोक्ष मार्ग में स्थिर करना, इन्द्रियादि का सम्यग् प्रकार से रक्षण करना, 'संलीनता'[44] नामक तप है।

44.संलीनस्य - संवृत्तस्य भावः संलीनता । - इन्द्रियों, कषाय एवं योगादि उपर जय पाने के लिए शरीरादि का संगोपन करना वह संलीनता है

द्रव्यतः संलीनता विविक्तशयनासनता इत्यर्थः ।

भावतः संलीनता मनोवाक्कायरूपयोगकषायइन्द्रियसंवृत्ततानाम् । - आचार पदीप

१ - इन्द्रिय संलीनता : खुद को आनंद देनेवाले शब्द, रूप, रस, गंध या स्पर्श में लीन इन्द्रियों को प्रभु के वचनों का सहारा लेकर रोकना अथवा इन्द्रियों के अनुकूल विषय में राग एवं प्रतिकूल विषयों में द्वेष न होने देना बल्कि समभाव रखना 'इन्द्रियसंलीनता'[45] है ।

यद्यपि संसारी जीवों के लिए सर्वथा इन्द्रियरोध संभव नहीं है, तो भी प्रारंभ में अप्रशस्त मार्ग में सक्रिय इन्द्रियों को प्रशस्त मार्ग में ले आना संभव है, एवं उसके बाद वैराग्यादि भावों से आत्मा को भावित कर, शब्दादि विषयों में उदासीन भाव से रहना साधक के लिए संभव एवं सरल बन सकता है ।

२ - कषाय संलीनता : शुभ भावना द्वारा उदय में आए हुए कषायों को निष्फल करना एवं पुनः कषाय उदय में ही न आए, ऐसे चित्त का निर्माण करना, कषाय संलीनता है ।

कषाय संलीनता तप की आराधना करने की इच्छावाला साधक सोचता है कि, "इस जगत् में जो भी दुःख है, वह क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय के कारण ही उत्पन्न हुआ हैं एवं जो आंशिक भी सुख या शांति देखने को मिलती है, वह क्षमा, नम्रता, सरलता, संतोष आदि गुण के कारण ही हैं । मुझे भी जीवन में सुख शांति चाहिए, तो कर्म के उदय के समय चाहे जैसा संयोग मिले, उसमें कषाय को स्थान दिए बिना क्षमादि गुणों के विकास के लिए यत्न करना चाहिए, तो ही कुसंस्कार नाश हो सकेंगे, वर्तमान सुधरेगा एवं उज्ज्वल भविष्य का सृजन होगा ।'

३ - योग संलीनता : अशुभ स्थान में जानेवाले मन, वचन, काया के योगों को रोककर उनको शुभ व्यापार में जोड़ना अथवा मोक्षमार्ग की साधना के लिए जिस समय जो उचित हो वैसे कुशल योग में - मोक्षसाधक कार्य में तीनों योगों को प्रयत्नपूर्वक स्थिर करना 'योग संलीनता' नामक[46] तप है ।

---

45. इन्द्रियसंलीनता - योगादिभिरिन्द्रियैः शब्दादिषु सुन्दरेतरेषु रागद्वेषाकरणमिन्द्रियसंलीनतेति।
- द. वै. हारिभद्रीय वृत्ति

46. योगसंलीनता - सा पुनर्मनोयोगादीनामकुशलानां निरोधः कुशलानामुदीरणमित्येवम् ।
- द. वै. हारिभद्रीय वृत्ति

इन्द्रिय, कषाय एवं योग की संलीनता साधु को निरंतर करनी चाहिए एवं श्रावकों को भी योग्य समय पर इस तप को करने से नहीं चूकना चाहिए, क्योंकि इन तीन की संलीनता से मोक्षमार्ग पर सरलतापूर्वक आगे बढ़ा जा सकता है ।

४ - विविक्तचर्या संलीनता : स्त्री, पुरुष या नपुंसक आदि से रहित एकांत स्थान में शयन, आसन एवं निवास रखकर, पौषध में रहे हुए सुदर्शन शेठ की तरह ज्ञानादि की आराधना में लीन होने का यत्न करना संलीनता तप का 'विविक्तचर्या' नामक चौथा प्रकार है ।

इन चार प्रकार की संलीनताओं में इन्द्रिय, कषाय एवं योग की संलीनता '**भाव संलीनता**' है, एवं विविक्त चर्या '**द्रव्य संलीनता**' है ।

शक्ति होते हुए भी उपर्युक्त सर्व प्रकार की संलीनता में यत्न नहीं करना तपाचार में अतिचार रूप है ।

बज्झो तवो होई - (ये छः प्रकार का) बाह्य तप है ।

अनशन आदि छः तप एक से बढ़कर एक हैं । प्रतिज्ञा करके आहार का त्यागरूप अनशन तप फिर भी सहज है, परन्तु आहार की छूट हो और पेट भर सके इतना आहार सामने होते हुए भी एवं भोजन के लिए बैठने के बाद भी भूख से कुछ कम लेना ऐसा, ऊनोदरी तप करना मुश्किल है । उसमें भी अनेक पदार्थ सामने होते हुए भी अमुक द्रव्य लेकर दूसरे पदार्थों का त्याग करना बहुत मुश्किल है । अमुक द्रव्य में भी जो मिष्ट भोजन, रसप्रद भोजन हो, उसका त्याग कर नीरस आहार करने रूप रसत्याग बहुत कठिन है ।

इन्द्रियों की आसक्ति घटाने के लिए प्रथम चार तप करने से भी शरीर की ममता से मुक्त होने के लिए विविध आसन एवं कष्टदायक लोचादि की जो अनेक क्रियारूप काय-क्लेश तप किया जाता है वह बहुत कठिन है । उससे आगे बढ़कर इन्द्रियों, कषायों एवं मन, वचन, काया के योगों को नियंत्रण में रखनेरूप संलीनता सब से अधिक कठिन है । यह संलीनता तप प्रायश्चित्त आदि अभ्यंतर तप का प्रवेशद्वार है; क्योंकि उसके द्वारा अंतर्मुख बनने के प्रयास का प्रारंभ होता है ।

छः प्रकार के बाह्य तप अभ्यंतर तप के लिए परम उपकारक हैं । इसलिए अभ्यंतर तप द्वारा आत्मशुद्धि के इच्छुक सर्व मुमुक्षुओं को इन सभी तप में विशेष यत्न करना चाहिए ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

"अनादिकालीन आहार की आसक्ति एवं शरीर की ममता को तोड़ने के लिए प्रभु ने बाह्य तप रूप सुन्दर तपाचार दर्शाया है । उनके सहारे मैं इच्छाओं के उपर अंकुश रखकर मन एवं इन्द्रियों को स्वस्थ बना सकता हूँ । तपाचार की आराधना के लिए ऐसा अच्छा अवसर प्राप्त होने पर भी आहारादि की आसक्ति के कारण मैंने उनका यथायोग्य पालन नहीं किया, कभी किया भी है, तो मात्र बाह्य रूप से किया है, कर्मनिर्जरा के हेतु से नहीं किया । आज अभी संकल्प करता हूँ कि यथाशक्ति तपाचार की आराधना करके, तप गुण का विकास कर, अपने कर्मों का नाश करूँगा ।"

अवतरणिका :

छट्ठी गाथा में छः प्रकार के बाह्य तप रूप तपाचार का वर्णन किया । अब आभ्यंतर तप रूप तपाचार का वर्णन करते हैं ।

गाथा :

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गो वि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ।।७।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्त्यं तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानं उत्सर्ग अपि च, आभ्यन्तरं तपो भवति ।।७।।

गाथार्थ :

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग ये भी अभ्यंतर तप हैं ।

विशेषार्थ :

१. पायच्छित्तं - पाप को छेदनेवाली, पाप को निर्मूल करनेवाली क्रिया।

जिस क्रिया द्वारा प्रायः चित्त का, मन का या आत्मा का शुद्धीकरण होता है, वैसी क्रिया को प्रायश्चित्त[47] कहते हैं अथवा मन, वचन एवं काया से जीवन में जो पाप हुए हैं, उन पापों की शुद्धि के लिए, पापविरोधी भावों को प्रगट करनेवाली सर्वज्ञ भगवंतों द्वारा बताई हुई क्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं । यह प्रायश्चित्त[48] दस प्रकार का हैं ।

अनादिकाल से अंतर में पड़े हुए कुसंस्कार जीव को पाप प्रवृत्ति करवाकर दुःखी करते हैं । जब तक इन कुसंस्कारों का उन्मूलन न हो तब तक जीव पाप प्रवृत्ति से पीछे लौटकर सच्चे सुख की खोज नहीं कर सकता । इसलिए वास्तविक सुख की इच्छा रखनेवाले साधक को इस जीवन में तथा इस के पूर्व के भवों में कैसे पाप किए है एवं किस भाव से किए हैं, वह शास्त्र वचनों के आधार से जानना चाहिए, जानकर गीतार्थ गुरु भगवंत के पास सरल भाव से उनका स्वीकार करना चाहिए एवं गुरु भगवंत उनके बदले में जो क्रिया जिस भाव से करने को कहें, वह करनी चाहिए । यह प्रायश्चित्त नाम का तपाचार है ।

47. पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तंति भण्णए तम्हा । पाएण वावि चित्तं विसोहई तेण पच्छित्तं ।।
- द. वै. हारिभद्रीय वृत्ति-४८

48. प्रायश्चित्त शब्द की विशेष जानकारी के लिए देखें सूत्र संवेदना भा. १ 'तस्स उत्तरी' सूत्र ।
प्रायश्चित्त - तत्र प्रायश्चित्तमतिचारविशुद्धिहेतुः यथावस्थितं प्रायो - बाहुल्येन चित्तमस्मिन्निति कृत्वा, तच्चालोचनादि दशविधं । तद्यथा - द. वै. हारिभद्रीय वृत्ति-४८
आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे । तवछेअमूल-अणवट्ठया य पारंचिए चेव ।।
आलोचना[१], प्रतिक्रमण[२], मिश्र[३], विवेक[४], कायोत्सर्ग[५], तप[६], छेद[७], मूल[८], अनवस्थाप्य[९] एवं पारांचित[१०]

प्रायश्चित्त करनेवाली आत्मा को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि, गुरु के पास प्रायश्चित्त करने के लिए जाते समय कहीं मान, मायादि कषायों को (शल्यों को) स्थान न मिल जाए, क्योंकि अभिमान वश छोटा लगता पाप भी छिपाने का मन हो जाए तो रूक्मि साध्वी की तरह आत्मा निर्मल नहीं बन सकती । इसके अलावा, प्रायश्चित्त लेते समय अगर अपने आप को छिपाने का मन हो तो भी लक्ष्मणा साध्वी की तरह संसार का भ्रमण बढ़ जाता है । इसलिए प्रायश्चित्त नामक तप को करने के इच्छुक साधक को सर्वप्रथम जीवन में पापभीरुता, सरलता, खुलापन, नम्रता आदि गुणों को अपनाना चाहिए, नहीं तो प्रायश्चित्त नामक तप के आचार में अनेक अतिचार लगने की संभावना रहती है ।

जिज्ञासा : प्रायश्चित्त से क्या लाभ होता है ?

तृप्ति : प्रायश्चित्त करने से पूर्व में किए हुए पाप नाश होते हैं[49]। पाप के संस्कार निर्बल होते हैं, उससे भविष्य में पुनः उन पापों का वैसे ही क्लिष्ट भावों से पुनरावर्तन नहीं होता और पाप कर्मों के नाश से आत्मा विशुद्ध बनती है । जिससे वह धर्म मार्ग में शीघ्र प्रगति कर सकती है ।

२. विणओ - गुण प्राप्ति के लिए नम्रतापूर्ण शास्त्रानुसारी व्यवहार विनय नाम का तप है ।

अहंकार आदि दोषों से परे रहकर, भौतिक अपेक्षा को किनारकर ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति के लिए मन-वचन-काया का नम्रताभरा व्यवहार 'विनय' नाम का तप है ।

---

49. पायच्छित्तकरणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेणं जीवे पावकम्मविसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ, सम्मं च पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आचारं आचारफलं च आराहेइ ।

हे भगवंत ! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रायश्चित्त करने द्वारा जीव पापकर्म की विशुद्धि प्राप्त करता है एवं निरतिचार व्रतवाला होता है । अच्छी तरह प्रायश्चित्त का स्वीकार करने से मोक्षमार्ग एवं मोक्षमार्ग के फल को विशुद्ध करता है और आचार एवं आचार के फल की आराधना करता है ।

- उत्तराध्ययन-अध्ययन-२९-१६

शास्त्रकारों ने विनय के पाँच प्रकार का वर्णन किया हैं ।[50]

१. ज्ञानविनय - बहुमानपूर्वक वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय करके ज्ञान प्राप्त करना तथा ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों के प्रति हार्दिक बहुमान भाव धारण करना ज्ञानविनय कहलाता है ।

२. दर्शन विनय - भगवान के द्वारा बतलाए गए जीव, अजीवादि तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखना एवं तत्त्व में शंका वगैरह टालना दर्शन विनय है ।

३. चारित्र विनय - चारित्र की श्रद्धा करना, भगवान ने बताए हुए संयम के प्रति आदर रखना, यथाशक्ति उसका पालन करना एवं अन्यों के समक्ष उसकी सुंदर प्ररूपणा करना चारित्र विनय है ।

४. तप विनय - भगवान के कहे हुए बारह प्रकार के तप में आदर एवं बहुमान रखना एवं शक्ति के अनुसार उनका आदर करना तप विनय है । [कुछ ग्रंथों में तप विनय अलग नहीं बताया गया है, उसका समावेश चारित्र विनय में ही कर दिया गया है ।]

५. उपचार विनय - आचार्य वगैरह को देखते ही खड़े हो जाना, सामने लेने जाना, हाथ जोड़ना उनकी गैरहाजरी में भी काया, वाणी एवं मन उनको समर्पित करना, उनका गुणानुवाद करना, उनका स्मरण करना वगैरह उपचार विनय कहलाता है ।

दशवैकालिक की वृत्ति में मन, वचन एवं काया से विनय के तीन प्रकारों को इसके साथ जोड़कर विनय के कुल सात भेद बताए हैं ।

इसके अतिरिक्त शास्त्र में निम्नोक्त १४ प्रकार के विनय बताए हैं :

---

50. तत्र सबहुमानं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादि ज्ञानविनयः सामायिकादिके सकलेऽपि श्रुते भगवत्प्रकाशितपदार्थान्यथात्वासम्भवात्तत्त्वार्थश्रद्धानिःशङ्कितत्वादिना दर्शनविनयः चारित्रस्य श्रद्धानं सम्यगाराधनमन्येभ्यश्च तत्प्ररूपणादिश्चारित्रविनयः, प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्व-भ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिः परोक्षेष्वपि कायवाग्मनोभिरञ्जलिक्रियागुणकीर्त्तनानु-स्मरणादिश्चोपचारविनयः । - आचार प्रदीप

१. कायिक विनय : १. गुरु आए तब खड़ा होना २. हाथ जोड़ना ३. आसन प्रदान करना ४. गुरु की आज्ञा में रहने की इच्छा करना ५. वंदन करना ६. सेवा करना ७. गुरु आए तब सामने जाना एवं ८. जाएँ तब छोड़ने जाना, यह आठ प्रकार का **कायिक विनय** है ।

२. वाचिक विनय - १. हितकारी बोलना २. कम बोलना ३. नम्रता से बोलना ४. आगे पीछे का (परिणाम वगैरह का) विचार करके बोलना चार प्रकार का **वाचिक विनय** है ।

३. मानसिक विनय - १. अकुशल चित्त का निरोध करना एवं २. कुशल चित्त की उदीरणा करना ये दो प्रकार का **मानसिक विनय** है ।

इसके सिवाय तीर्थंकर, सिद्ध, कुल, गण, संघ, क्रिया, धर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय एवं गच्छाधिपति इन १३ स्थानों की [१]आशातना टालना, [२]भक्ति करना, [३]बहुमान करना एवं [४]उनके गुणों की कीर्तन-स्तुति करना, इन सब का ४ प्रकार से विनय करने पर कुल ५२ प्रकार का विनय भी होता है ।

धर्म का मूल विनय है । सर्व कल्याण का कारण विनय है । विनय से[51] आठों प्रकार के कर्मों का नाश कर सकते हैं, क्योंकि अंतर में प्रगट हुआ नम्रतारूप विनय का परिणाम ज्ञानादि गुणों को प्राप्त करवाकर जीव को मोक्ष के निकट पहुँचा सकता है।

मानमुक्त होकर जीव जब विनयपूर्वक[52] व्यवहार करता है तभी उसे विद्या मिलती है । विद्या (सम्यग्ज्ञान) से जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है एवं सम्यग्दर्शन से सम्यक्चारित्र प्राप्त होता है । इस चारित्र द्वारा जीव मोक्ष तक

---

51 विनीयतेऽनेनाष्टप्रकारं कर्मेति विनयः ।

52 रे जीव मान न कीजिए, माने विनय न आवे रे,
विनय विना विद्या नहीं, तो किम समकित पामे रे,
समकित विण चारित्र नहीं, चारित्र विण नहीं मुक्ति रे. - मान की सज्झाय
विनयायत्ताश्च गुणाः, सर्वे विनयश्च मार्दवायत्तः
यस्मिन् मार्दवमखिलं, स सर्वगुणभाक्त्वमाप्नोति । - प्रशमरति-१६९

पहुँचता है । यदि विनय न हो तो इन में से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए मुमुक्षु को मान त्याग कर, 'विनय' नामक तप का स्वीकार करना अत्यंत आवश्यक है ।

जिज्ञासा : ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार एवं तपाचार इन चार आचारों में एवं ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय एवं तपविनय में क्या अंतर है ?

तृप्ति : ज्ञानादि गुणों की सम्यग् प्राप्ति या वृद्धि के लिए किया गया आचरण ज्ञानादि आचार है एवं ज्ञानादि गुणों के प्रति अंतरंग बहुमान का भाव एवं उस प्रकार से होनेवाला विनय पूर्ण बाह्य व्यवहार ज्ञानादिविनय है । दोनों में बाह्य आचार एक सा दीखता है, तो भी पंचाचार में आचार की । क्रिया की मुख्यता है एवं विनय में हार्दिक बहुमान की, नम्रता के भाव की मुख्यता है ।

३. वेयावच्चं - वैयावृत्त्य[53] अर्थात् सेवा, भक्ति ।

गुणवान आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, स्थविर, शैक्ष (नया साधु), ग्लान, साधर्मिक, कुल, गण एवं संघ इन दस को विधिपूर्वक, निर्दोष एवं कल्प आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, वसति, औषध आदि देने द्वारा भक्ति करना या अपनी काया द्वारा उनकी सेवा करना अथवा उनके रोग-उपसर्गादि को दूर करना या उनको शारीरिक-मानसिक अनुकूलता बनाये रखने के लिए जो कुछ भी करने योग्य हो वह करना "वैयावच्च" नामक तप है ।

उपवासादि तप करके जीव आहारादि की आसक्ति छोड़कर जिस प्रकार आत्म भाव के अभिमुख हो सकता है । उसी प्रकार क्षमादि गुणों के सागर आचार्यादि की बहुमानपूर्वक सेवा एवं भक्ति करके, मुमुक्षु जीव क्रोधादि कषायों को शांत करके क्षमादि गुणों के अभिमुख हो सकता है एवं उसके द्वारा कर्मनिर्जरा कर सकता है ।

---

53. वैयावच्च की विशेष जानकारी के लिए देखिए सूत्र सं. भा. २, वैयावच्चगराणं सूत्र पृ. २६५
वैयावृत्यं - व्याधिपरीषहोपसर्गादौ यथाशक्ति तत्प्रतीकारोऽन्नपानवस्त्रपात्रप्रदानविश्रामणादिभिस्तदानुकूल्यानुष्ठानं च । तच्च दशधा । - आचार प्रदीप

शास्त्र में वैयावच्च को अप्रतिपाति (आने के बाद चला न जाए वैसा) गुण कहा गया है । इस तप के बारे में तो भगवान ने कहा है कि, **"जो गिलाणं पडियरइ सो मां पडियरइ।"** 'जो ग्लान की (रोगी व्यक्ति की) सेवा करता है वह मेरी सेवा करता है ।

वैयावच्च तप सुंदर है, परन्तु इस तप की आराधना करना सरल नहीं है। जो व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति की सानुकूलता को समझ सकते हैं, अपने मन-वचन-काया को कोमल बना सकते हैं, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एवं उत्सर्ग-अपवाद इत्यादि को जानते हैं, वे ही इस तप की आराधना कर सकते हैं । इसलिए जिसे भी गुणवान की भक्ति करनी हो उसे मानादि कषाय को छोड़कर अपने मन-वचन-काया को नम्र बनाकर समझदारी पूर्वक सामने वाले व्यक्ति की अनुकूलता के अनुसार सेवा करनी चाहिए और ये खास ध्यान में रखना चाहिए की गुणवान की भक्ति कर्मनिर्जरा या गुणप्राप्ति के लिए करनी है । कीर्ति आदि की कामना से या सामनेवाले व्यक्ति को संतुष्ट करके कोई कार्य करवा लेने की भावना से की हुई सेवा का समावेश इस तप में नहीं होता ।

४. तहेव सज्झाओ - इसी प्रकार स्वाध्याय ।

सर्वज्ञ भगवंत के आत्म हितकारक[54] वचन जिसमें संगृहीत किए गये हैं उसको शास्त्र कहते हैं । इन शास्त्र वचनों का सहारा लेकर विषय-कषाय से दूषित अपनी आत्मा को शुद्ध करने का, विभाव में गई आत्मा को स्वभाव में[55] लाने का या स्वभाव की प्राप्ति हो वैसे संस्कारों का सिंचन करने का प्रयत्न किया जाता है । उसके लिए शास्त्र का जो पुनः पुनः अध्ययन आदि किया जाता है, उसे 'स्वाध्याय' कहते हैं ।

बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय एक अति महत्त्व का सुन्दर तप है । स्वाध्याय से प्राप्त हुए शास्त्रज्ञान से अनशन से लेकर ध्यान या कायोत्सर्ग तक

54 स्व=अपना एवं अध्यायउअध्ययन अर्थात् आत्मा का हित जिस शास्त्र-वचन से हो उन शास्त्र वचन का अध्ययन-अध्यापन-चिंतन-मनन स्वाध्याय है ।

55 स्वभावलाभसंस्कारकारणम् ज्ञानमिष्यते । - ज्ञानसार

के तप भी शुद्ध हो सकते हैं । शास्त्र ज्ञान के बिना अन्य तप की या अहिंसादि धर्म की कोई कींमत नहीं । इसलिए कहते हैं कि **'पढमं नाणं तओ दया'** - प्रथम ज्ञान एवं बाद में दया । इसके अतिरिक्त ज्ञानी श्वासोच्छ्‌वास में जितने कर्म का नाश करता है, उतने कर्म अज्ञानी करोड़ों भव तक तपकर के भी नाश नहीं कर पाता । इसलिए शास्त्र में कहा गया है कि **'सज्झाय समो नत्थि तवो'** - स्वाध्याय जैसा कोई तप नहीं ।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय के निम्नलिखित पाँच प्रकार बताए हैं -

१ - वाचना : आत्महित का कारण बने, इस तरीके से गीतार्थ गुरु भगवंत श्रोताओं को शास्त्र का श्रवण कराए एवं श्रोता भी अपनी आत्मा का हित हो उस तरीके से श्रवण करें, वह 'वाचना' नामक स्वाध्याय है; परन्तु आत्महित की अपेक्षा के बिना की हुई वाचना या शास्त्र श्रवण स्वाध्याय रूप नहीं बन सकते।

२ - पृच्छना : वाचना के बाद जो पदार्थ समझ में न आया हो उसे समझने अथवा उस विषय को बहुत गहराई से समझने या उसे दृढ़ करने के लिए ज्ञानी भगवंतों को विनीत भाव से, बाल भाव से पूछना 'पृच्छना' नामक स्वाध्याय है ।

३ - परावर्तन : वाचना एवं पृच्छना द्वारा जाने हुए भावों को आत्मसात् करना उनके अनुरूप जीवन व्यवहार बनाना, उन शास्त्र वचनों एवं अर्थ को पुनः पुनः दोहराना 'परावर्तना' नामक स्वाध्याय है । ऐसे भावों से रहित, मात्र शब्दों से बोलना या गाथाएँ गडगडाना, व्यवहार से पुनरावर्तन नामका स्वाध्याय होते हुए भी लक्ष्य की सिद्धि का कारण नहीं बनता । इसलिए वह वास्तव में 'परावर्तना' नामक स्वाध्याय नहीं है।

४ - अनुप्रेक्षा : 'अनु' अर्थात् पीछे से एवं 'प्रेक्षा' अर्थात् प्रकर्ष से देखना । अतः अध्ययन किए हुए विषय का बाद में हर एक दृष्टिकोण से गंभीरतापूर्वक चिन्तन करना 'अनुप्रेक्षा' नाम का स्वाध्याय है ।

परावर्तन द्वारा स्थिर हुए शास्त्रवचनों पर अनुप्रेक्षा करने से नवीन दृष्टि का उद्भव होता है। उससे शास्त्रों के रहस्य हाथ लगते हैं, अंतःशत्रुओं का अवलोकन हो सकता है, उनके नाश के उपाय प्राप्त होते हैं एवं मोक्ष मार्ग का दर्शन होता है । फलस्वरूप मोक्षमार्ग में प्रवर्तन वेगवंत बनता है ।

शास्त्र वचनों की अनुप्रेक्षा करके बहुत भावों को जानते हुए भी अगर कषायों का नाश करनेवाले आत्मोपयोगी भाव न जान सकें तो आत्महित नहीं हो सकता । इसलिए वैसी आत्महित से निरपेक्ष अनुप्रेक्षा स्वाध्याय स्वरूप नहीं बन सकती । परावर्तना से भी अनुप्रेक्षा अधिक फलदायी है । परावर्तन के लिए शारीरिक शक्ति की आवश्यकता है, अनुप्रेक्षा तो शरीर की शक्ति क्षीण हो तो भी हो सकती है ।

५ - धर्मकथा : अनुप्रेक्षा से स्पष्ट हुए भावों को, अपने या अन्य के हित के लिए योग्य आत्माओं के समक्ष प्रगट करना 'धर्मकथा' नामक स्वाध्याय है।

पूर्व के चार प्रकार के स्वाध्याय द्वारा शास्त्र वचनों को अपने हृदय में परिणत करके जो स्वयं गीतार्थ बने हैं और कुशल बुद्धि की योग्यता के कारण गुरु ने जिनको धर्मोपदेश देने का अधिकार सौंपा है, वे महात्मा ही 'धर्मकथा' नामक स्वाध्याय करने के अधिकारी है; क्योंकि वे किस जीव को, कब, क्या कहने से फल मिलेगा, वह ठीक तरीके से जान सकते हैं और इसलिए वे श्रोता की योग्यता-अयोग्यता का निर्णय कर तदनुसार धर्मकथा करते हैं । इस प्रकार वे अन्य को धर्ममार्ग में योग्य तरीके से सहायक बन सकते हैं ।

अधिकार प्राप्त किए बिना जो धर्मोपदेश करते हैं वे स्व-पर का हित नहीं कर सकते । कभी कभी तो सामनेवाले व्यक्ति की योग्यता का विचार किए बिना धर्मोपदेश देने से हित की भावना से किया हुआ धर्मोपदेश भी सामनेवाली व्यक्ति को अनर्थ के खड्डे में डाल देता है । इसीलिए शास्त्रकारों ने सभी को धर्मकथा का अधिकार नहीं दिया है ।

पहले चार प्रकार का स्वाध्याय मुख्यतया स्वात्म कल्याण के लिए है, जब कि यह 'धर्मकथा' नामक स्वाध्याय स्वकल्याण के उपरांत विशिष्ट प्रकार से पर-कल्याण का साधक है । पहले चार प्रकार के स्वाध्याय द्वारा तत्त्व को

आत्मसात् करके जो धर्मदेशना देते हैं, वे विपुल कर्मनिर्जरा करते हैं । शास्त्र में कहा गया है कि 'जिनकल्पी जिनकल्प स्वीकार कर जो कर्मनिर्जरा करते हैं, उससे भी अधिक कर्मनिर्जरा अमोघ देशना लब्धिधारी दशपूर्वी को होती है ।'

५. झाणं - ध्यान, मन की एकाग्रता

किसी भी विषय में मन को[56] एकाग्र करना, ध्यान है अथवा सुदृढ़ आत्म व्यापार को भी 'ध्यान' कहते हैं । उसके चार प्रकार हैं : आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान । उसमें से प्रथम दो ध्यान कर्म का बंध करवाकर जीव को तिर्यंच एवं नरकगति में ले जाते हैं एवं वे संसार का कारण हैं, जब कि अंतिम दो ध्यान पुण्य बंध द्वारा मनुष्यगति एवं देवगति रूप सद्गति एवं कर्मनिर्जरा करवाकर सिद्धिगति का कारण बनते हैं । शुभ ध्यान लंबे समय से इकट्ठे किए हुए अनंत कर्मों का क्षण में नाश करता है । इसलिए अंतिम दो ध्यानों का समावेश आभ्यंतर तप में किया है ।

शास्त्रों में मोक्ष प्राप्ति के अनेक उपाय बताए गये हैं, उन सब में श्रेष्ठ उपाय ध्यान है, क्योंकि तप, जप, संयम आदि कुछ भी न हो, तो भी यदि शुभध्यान प्राप्त हो जाए तो मरुदेवी माता एवं भरत चक्रवर्ती वगैरह की तरह मोक्ष मिल सकता है । इसका मतलब यह नहीं है कि तप, जप आदि बेकार हैं, परन्तु वे सब भी ध्यान को प्राप्त करवाकर मोक्ष तक पहुँचा सकते हैं । इसलिए ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण माना जाता है।

मोक्ष के अनुकूल सर्वसंवर भाव की प्राप्ति तथा मन-वचन-काया की चंचलता का त्याग कर आत्मभाव में संपूर्ण स्थिर होने का कार्य भी इस ध्यान से ही संभव बनता है । इतना ही नहीं, सर्व ऋद्धि, समृद्धि या तीर्थंकर बनने का सौभाग्य भी समापत्तिरूप ध्यान से प्राप्त होता है । इसलिए साधक को शुभध्यान के लिए खास प्रयत्न करना चाहिए ।

---

56. सुदढप्पयत्तवावारणं णिरोहो व विज़माणाणं ।
झाणं करणाणं मयं ण उ चित्तणिरोहमेत्तागं ।। ३०७१।। - विशेष आवश्यक भाष्य
सुदृढ़ प्रयत्नपूर्वक व्यापार एवं विद्यमान करणों का निरोध, ध्यान कहलाता है; परन्तु चित्तनिरोध मात्र नहीं ।

विषय-कषाय के अधीन बने हुए जीव को अशुभ ध्यान सहज है, परन्तु शुभ ध्यान में मन को स्थिर करने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है । उसके लिए यथाशक्ति अनशन वगैरह तप करके मन एवं इन्द्रियों को बारबार अशुभ भाव में जाने से रोकना चाहिए, शास्त्र श्रवण एवं शास्त्र अभ्यास द्वारा तत्त्वभूत पदार्थों को जानना चाहिए, उनका बारबार चिंतन करके हृदय को उससे भावित करना चाहिए एवं उनके उपर गंभीर अनुप्रेक्षा करनी चाहिए । इस प्रकार का प्रयत्न हो, तो उन पदार्थो में मन की एकाग्रतारूप शुभ ध्यान प्राप्त हो सकता है।

धर्मध्यान :

शुभध्यान में प्रथम धर्मध्यान है, जिसके चार प्रकार हैं :

१ - आज्ञाविचय : 'परम हितकारक प्रभु की क्या आज्ञा है ? उसके पालन से आत्मा को कैसा लाभ होता है ? न पालने से कैसे कैसे नुकसान होते हैं ? मेरी शक्ति अनुसार मुझ से उसका कितना पालन हो सकता है ?' इन सब बातों पर चिंतन, मनन एवं भावन करने द्वारा मन को एकाग्र करना, '**आज्ञाविचय**' नामक धर्मध्यान है ।

२ - अपायविचय : राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय कैसे कैसे अहित का कारण हो सकते हैं ? उसके कारण वर्तमान एवं भविष्य में कैसी कैसी विडंबनाएँ खड़ी हो सकती हैं ? इन मुद्दों पर चिंतन मनन करने द्वारा मन को एकाग्र करना '**अपायविचय**' नामक धर्मध्यान है ।

३ - विपाकविचय : कषाय के अधीन होकर प्रवृत्ति करने से भविष्य में नरक, तिर्यंच आदि के भवों में कैसे कैसे दुःख सहन करने पड़ेंगे ? इन मुद्दों पर चिंतन मनन करने द्वारा मन को एकाग्र करना '**विपाकविचय**' नामक धर्मध्यान है ।

४ - संस्थानविचय : चौदह राजलोक, उनमें रहनेवाले अनंत जीव, कर्म के कारण अलग अलग स्थान में उनको प्राप्त हुई अवस्थाएँ : इन मुद्दों पर चिंतन मनन करने द्वारा मन को एकाग्र करना '**संस्थानविचय**' नामक धर्मध्यान कहलाता है ।

शुक्लध्यान :

बार बार किया हुआ धर्मध्यान[57] शुक्लध्यान प्राप्त करवाता है । उसके भी चार प्रकार हैं :

१. पृथक्त्व-सवितर्क-सविचार :

शुक्लध्यान के प्रथम अवस्थान/सोपान (पाये) का नाम तीन शब्दों से बना है : पृथक्त्व, सवितर्क एवं सविचार । उनमें -

✦ **पृथक्त्व** अर्थात् अलगाव, वैविध्य । यह ध्यान कोई भी एक द्रव्य के अलग अलग पर्यायों - जैसे कि उसकी उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व वगैरह विषयक होता है । इसके अलावा यह ध्यान अलग अलग पर्यायों संबंधी अलग अलग नय के विविध विषयों पर विचारवाला होता है, इसलिए उसे पृथक्त्व कहते हैं ।

✦ **वितर्क** अर्थात् श्रुत । यह ध्यान द्वादशांगी रूप श्रुत के आधार पर होता है। इसलिए उसे सवितर्क कहते हैं एवं वह चौदहपूर्वी को ही संभव है ।

✦ **विचार** अर्थात् विचरण अथवा संक्रमण (transmission). यह ध्यान कभी शब्द के आधार पर होता है तो कभी अर्थ के आधार पर होता है । इसके अलावा वह कभी मनोयोग से होता है, तो कभी काययोग से, तो कभी वचन योग से होता है अथवा तीनों योग से भी होता है । इस प्रकार इस ध्यान में शब्द से अर्थ में या एक योग से दूसरे योग में विचरण चालू रहता है । अतः इसे सविचार कहा गया है ।

संक्षेप में श्रेणिवंत मुनियों को ८ से १२वें गुणस्थान तक, पूर्वगत श्रुत के अनुसार एक ही द्रव्य के भिन्न भिन्न पर्यायों का शब्द-अर्थ के योग की संक्रान्तिवाला प्रथम शुक्ल ध्यान होता है ।

२. एकत्व-सवितर्क-अविचार :

शुक्ल ध्यान के दूसरे अवस्थान/सोपान (पाये) का नाम भी तीन शब्दों से बना है : एकत्व, सवितर्क एवं अविचार, उनमें -

57. योगशास्त्र प्रकाश ११ गाथा ६, ७, ८, ९

✦ **ऐकत्व :** अर्थात् किसी एक द्रव्य के एक ही पर्याय विषयक ध्यान ।

✦ **सवितर्क :** अर्थात् द्वादशांगीरूप श्रुत के आधार पर होनेवाला ध्यान ।

✦ **अविचार :** अर्थात् विचरण (संक्रमण) रहित ध्यान । इस ध्यान में शब्द से अर्थ में या अन्य अन्य योग में संक्रमण नहीं होता, इसलिए इसे अविचार कहते हैं ।

वायु रहित स्थान में रहे हुए निष्कंप दीपक की ज्योति जैसी स्थिरतावाला यह ध्यान निर्विकल्प होता है । यह ध्यान बारहवें गुणस्थानक के अंत तक रहता है एवं उसके अंत में केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

३. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति (अनिवृत्ति) :

मोक्ष गमन के अत्यंत नजदीक के समय में सर्वज्ञ केवली भगवंत मन एवं वचन योग का संपूर्ण निरोध करके, बादर काय योग का भी निरोध करते हैं । मात्र श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया बाकी रहती है । इससे फिर कभी वापिस लौटना नहीं होता, मतलब कि यह सूक्ष्म क्रिया मिटकर अब कभी भी स्थूल क्रिया नहीं होनेवाली है इसलिए इस ध्यान का नाम सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति या सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति बताया गया है ।

यह ध्यान तेरहवें गुणस्थान के अंत में मन एवं वचन योग रोकने के बाद सूक्ष्म काययोगी केवली को काययोग रोकने के समय होता है । यहां आत्मा लेश्या एवं योग रहित बनती जाती है, शरीर प्रवृत्ति से आत्मा छूटती जाती है, सर्व कर्मों, तेजस-कार्मण शरीर एवं आयुष्य से आत्मा अलग होती जाती है ।

४. व्युपरत क्रिया-अप्रतिपाति (अनिवृत्ति) :

व्युपरत अर्थात् जिसमें क्रिया सर्वथा रुक गई हो । मेरुपर्वत की तरह अडोल शैलेषी अवस्था में अयोगी केवली की सूक्ष्म क्रिया का भी विनाश होता है । यहां से भी पुनः गिरने की संभावना नही रहती । इसलिए १४वें गुणस्थान में होनेवाले इस ध्यान को व्युपरत क्रिया अप्रतिपाति या अनिवृत्ति कहते हैं ।

शुक्ल ध्यान के प्रथम दो अवस्थानों/सोपानों पर आरूढ़ हुई आत्मा घाति कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करती है एवं शुक्लध्यान के अंतिम दो

अवस्थानों/सोपानों पर आरूढ़ होकर आत्मा सर्व कर्मों का नाश करके मोक्ष सुख को प्राप्त करती है । इस तरीके से शुभध्यान कर्मक्षय का कारण होने से उसका समावेश अभ्यन्तर तप में किया गया है ।

६. उस्सग्गोवि अ, - एवं कार्योत्सर्ग अथवा त्याग भी (आभ्यंतर तप है)

काया की ममता को त्यागकर एक ही आसन में रहना कायोत्सर्ग है । ध्यान के प्रभाव से जब देहाध्यास छूटता है - 'शरीर ही मैं हूँ' ऐसी बुद्धि का नाश होता है, तब जीव क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है । श्रेणी द्वारा क्रम से केवलज्ञान प्राप्तकर जीव शुक्लध्यान के अंतिम दो अवस्थानों/सोपानों का प्रारंभ करता है, तब काया के पूर्ण त्यागरूप पराकाष्टा का कायोत्सर्ग प्राप्त होता है । यह श्रेष्ठ कायोत्सर्ग पाँच ह्रस्व अक्षरों को बोलते हुए जितना समय लगता है, उतने ही समय में मोक्ष प्राप्त करवाता है । तत्काल मोक्ष प्राप्त करवानेवाला यह कायोत्सर्ग सर्वश्रेष्ठ कक्षा का तप कहलाता है ।

ऐसे उत्तमोत्तम कायोत्सर्ग को प्राप्त करने के लिए नीचे की भूमिका के साधक काया को किसी एक स्थान में स्थिर कर, मौन धारण कर, मन को शुभ ध्यान में स्थिर कर विविध प्रकार का कायोत्सर्ग करते हैं । उन सब कायोत्सर्गों का भी इस तप में समावेश होता है ।

उत्सर्ग का दूसरा अर्थ है त्याग। उसके दो प्रकार हैं :

(१) द्रव्य व्युत्सर्ग (२) भावव्युत्सर्ग

शरीरादि के प्रति ममता का त्यागकर अनासक्त भाव को प्राप्त करने के लिए जो लोकसमुदाय, वस्त्र, पात्र या कायादि का त्याग किया जाता है, वह 'द्रव्यव्युत्सर्ग' कहलाता है । उसके चार प्रकार हैं ।

१ - गणव्युत्सर्ग : विशिष्ट प्रकार की साधना करने की इच्छा रखनेवाले गीतार्थ साधु लोकसमुदाय से हटकर एकाकी विहरण करके अपनी आत्मा को सर्वजन से निर्लेप करने का जो यत्न करते हैं, उसे गणव्युत्सर्ग कहते हैं ।

२ - शरीरव्युत्सर्ग : शरीर के ममत्व को त्याग करके, शुभ ध्यान में स्थिर होने के लिए **ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं** - बोलकर जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह शरीर व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) कहलाता है ।

३ - उपधिव्युत्सर्ग : अगर दोषित अथवा रागादि की वृद्धि करनेवाले वस्त्र-पात्रादि आ जाएँ, तो निष्परिग्रही मुनि अपने अपरिग्रह व्रत को अखंड रखने के लिए उनका त्याग करते हैं अथवा किसी कारण से दोषित उपधि लेनी पडे, परन्तु बाद में निर्दोष की प्राप्ति हो जाए, तब शास्त्र विधि के अनुसार दोषित उपधि का त्याग करते हैं (परठवते है), उनके ऐसे त्याग को उपधि व्युत्सर्ग कहा है ।

४ - भक्तपान व्युसर्ग : रागादि भावों की वृद्धि करनेवाले या अशुभ आहार-पानी अनाभोगादि से आ जाए तो उनका त्याग करना भक्तपान व्युत्सर्ग है ।

इस प्रकार 'द्रव्यव्युत्सर्ग' चार प्रकार का है । इस तप में सम्यक् प्रकार से यत्न करने से काषायिक भाव घटते हैं, सांसारिक भावों से आत्मा पीछे हटती है एवं आत्मा के उपर लगे हुए कर्म धीरे धीरे नष्ट हो जाते हैं । इस तरह द्रव्य व्युत्सर्ग करने से **१ - कषाय व्युत्सर्ग २ - संसार व्युत्सर्ग, ३ - कर्मव्युत्सर्ग** नामक तीन प्रकार के भाव-व्युत्सर्ग की प्राप्ति होती है ।

उच्च-उच्चतर उत्सर्ग (त्याग) करने के लिए प्रारंभ में बार बार इन सब कायोत्सर्ग की आराधना अत्यावश्यक है । स्वयं तीर्थंकर परमात्मा भी अपने साधनाकाल में निरंतर अप्रमत्तता से काउसग्ग एवं ध्यान में रहते हैं, क्योंकि कायोत्सर्ग के साथ दोष क्षय एवं कर्म क्षय का सीधा संबंध है । कायोत्सर्ग से काया की जड़ता दूर होती है, शरीर हलका बनकर संयम साधक क्रियाएँ करने में समर्थ एवं उत्साही बनता है, चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है । फलस्वरूप स्वतः निर्मल प्रज्ञा का उद्भव होता है । उससे अपनी कमजोरियां स्पष्टरूप से जानकारी में आती हैं एवं वास्तविक मोक्षमार्ग का दर्शन होता है । उस मार्ग में आगे बढ़ने से दोषों एवं कर्म का क्षय होता है एवं क्रम से श्रेणी काल में प्रकट होनेवाले सर्वश्रेष्ठ भावोत्सर्ग की सिद्धि

होती है । इसलिए साधना जीवन में प्रवेश करनेवाले साधक को भी प्रतिदिन विविध कायोत्सर्ग करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

अब्भिंतरओ तवो होइ - (ये छः प्रकार का) आभ्यंतर तप है ।

प्रायश्चित्त आदि छः प्रकार के आभ्यंतर तप हैं । बाह्य तप से यह तप अति उच्च श्रेणी का है । उसमें भी प्रायश्चित्त आदि एक एक तप भी एक से बढ़कर एक हैं । ध्यान एवं कायोत्सर्ग तो सर्वश्रेष्ठ तप हैं, जो तत्काल मोक्ष दिलाने में समर्थ है ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए कर्मनिर्जरा का अर्थी साधक सोचता है,

"प्रभुशासन में महापापी को भी पवित्र करनेवाली अंतरंग तप की कितनी सुंदर व्यवस्था है कि जिसमें साधक की शारीरिक शक्ति कम हो तो भी वह मन को नियंत्रण कर विशिष्ट कर्मनिर्जरा कर सकता है । मेरा भाग्योदय है, जिससे मुझे इस तप करने का सुंदर अवसर मिला है । ऐसा होते हुए भी प्रमाद के वश पड़ा हुआ मैं इस अवसर का लाभ नहीं ले सका । इसीलिए मेरी मलिन आत्मा अब तक निर्मल नहीं हुई । अब आज से ऐसा प्रयत्न करूँ कि प्रायश्चित्त आदि तप की सुविशुद्ध आराधना करके यहीं पर प्रशम सुख का आस्वाद पा सकूँ ।"

अवतरणिका :

अब क्रम से वीर्याचार बताते हैं -

गाथा :

अणिगूहिअ-बल-वीरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरिआयारो ।।८।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

(ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपाचारमाश्रित्य) अनिगूहित-बल-वीर्यः यः (ग्रहणकाले) यथोक्तं आयुक्तः पराक्रमते । (तद् ऊर्ध्वं) यथास्थाम च युनक्ति (असौ) वीर्याचारः ज्ञातव्यः ।।८।।

गाथार्थ :

(आगे की गाथाओं में वर्णित ज्ञानादि के ३६ आचारों को ग्रहण करने में) जो साधक बाह्य एवं आन्तरिक सामर्थ्य को छिपाये बिना, शास्त्रोक्त रीति से उपयुक्त बनकर (धर्मानुष्ठान में) पराक्रम करता है एवं उसके बाद उसमें यथाशक्ति (अपनी आत्मा को) जोड़ता है, (वैसे आचार को) वीर्याचार जानना ।

अथवा

१. अपने बल-वीर्य को नहीं छिपाना २. यथायोग्य तरीके से (पंचाचार के अनुष्ठान में) पराक्रम करना एवं ३. मन-वचन-कायारूप तीन योगों को शक्ति के अनुसार (उन उन अनुष्ठानों में) जोड़ना, ये तीन प्रकार के वीर्याचार हैं।

विशेषार्थ :

वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट हुए बल, पराक्रम, शक्ति या उल्लास आदि को वीर्य कहते हैं । यह वीर्य मन, वचन एवं काया के माध्यम से प्रवृत्त होता है । उसमें जो मन, वचन, काया की प्रवृत्ति गुणप्राप्ति या कर्मनिर्जरा का साधन बने, उसे वीर्याचार[58] कहते हैं । दूसरी अपेक्षा से सोचें तो, पाँचों प्रकार के आचारों में अपनी शक्ति के अनुसार (न शक्ति से कम न ज्यादा) शास्त्रानुसारी प्रवर्तन करना वीर्याचार है ।

इस वीर्याचार के तीन प्रकार हैं :

१. अणिगूहिअ-बल-वीरिओ - (ज्ञानादि के विषय में) अनिगृहीत बल-वीर्यवान अपनी शक्ति को नहीं छिपानेवाला ।

---

58. वीर्यं - सामर्थ्यं - तस्याचरणं - सर्वशक्त्या सर्वधर्मकृत्येष्वनिन्हवनेन प्रवर्तनं वीर्याचारः ।

- आचार प्रदीप

ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप के विषय में या दान, शील, तप एवं भावरूप धर्म के विषय में, जब जब प्रवृत्ति करने का अवसर हो, तब तब अपनी शक्ति के अनुसार, उसका पूर्णतया उपयोग करके दानादि में प्रयत्न करना, न कि शक्ति छिपाकर प्रवृत्ति करना वीर्याचार का प्रथम भेद है । जिसमें १० गाथा कंठस्थ करने की शक्ति हो वह यदि ५-६ गाथा में ही संतोष माने तो उसने अपनी शक्ति को छिपाया ऐसा कहा जायेगा अथवा जो व्यक्ति लाख रुपये का दान करने की क्षमतावाला है और वह मात्र १००० रूपये का ही दान करके 'मैंने बहुत किया' ऐसा माने तो उसने भी अपनी शक्ति छिपाई है, ऐसा माना जाता है । इस तरीके से शास्त्र का अध्ययन करनेवाला या धन का दान करनेवाला वीर्याचार का पालन नहीं कर सकता, परन्तु अपनी शक्ति को लेश मात्र भी छिपाए बिना जो धर्म आराधना करता है, वही वीर्याचार के इस प्रथम आचार का पालन कर सकता है ।

२. परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो - ज्ञानादि ग्रहण करते समय शास्त्र अनुसार जिस प्रकार से कहा गया है उसी प्रकार से जो पराक्रम-उद्यम करता है ।

दोषमुक्त होने एवं आत्मा के परम आनंद को प्राप्त करने के लिए की जानेवाली धर्मक्रिया, कौन सी मुद्रा में रहकर, किस प्रकार के शब्दोच्चार पूर्वक एवं किस प्रकार के भाव से करनी है, उसकी सब विधि शास्त्र में बताई गई है । शास्त्रोक्त उस विधि को स्मृति में रखकर उस प्रकार से धर्मकार्य में किया हुआ प्रयत्न दूसरे प्रकार का वीर्याचार है ।

३. जुंजइ अ जहाथामं नायव्वो वीरिआयारो - (एवं इसके बाद धर्म मार्ग में) यथाशक्ति जुड़ता है - वर्तन करता है, उसे वीर्याचार जानना ।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए किए जानेवाले धर्मकार्य जिस प्रकार अपनी शक्ति से कम नहीं करने चाहिए, उसी तरह शक्ति से अधिक भी नहीं करने चाहिए

बल्कि अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का विचार कर, उसके अनुरूप करने चाहिए; क्योंकि प्रसंग को पाकर आनंद के उछाल में आकर, शक्ति से अधिक धर्मकार्य किया जाए, तो शायद उस समय वह कार्य हो जाए, तो भी सतत उसका आनंद, अनुमोदना या उसके भाव की वृद्धि नहीं होती । इस कारण शक्ति से अधिक किया हुआ, धर्म कार्य सानुबंध मोक्ष का कारण नहीं बनता । उसी प्रकार शक्ति से अधिक किया हुआ दान, शील, तप या अन्य भी धर्म किसी का समावेश वीर्याचार में नहीं होता । **स्वशक्ति का विचार करके, शक्ति से कम भी नहीं एवं शक्ति से अधिक भी नहीं,** उस तरीके से की गई शास्त्रानुसारी धर्म क्रिया ही वीर्याचार रूप बनती है ।

इस गाथा का उच्चारण करते समय साधक सोचता है-

"प्रभु की कैसी दीर्घदृष्टि है, विवेक की कैसी पराकाष्टा है ! कहीं भी शक्ति छिपाने की बात नहीं, उसी प्रकार शक्ति से अधिक या स्वेच्छानुसार वर्तन की बात भी नहीं क्योंकि ये सब भाव काषायिक परिणाम हैं । ऐसे विवेकविहीन, काषायिक या स्वच्छंदी भावों से किए हुए धर्म द्वारा कभी भी आत्मकल्याण सिद्ध नहीं हो सकता । प्रभु की कैसी करुणा है कि इन सब से मुझे बचाने के लिए उन्होंने मुझे सावधान किया है । इस गाथा द्वारा उन्होंने मुझे बताया है कि कोई भी धर्मानुष्ठान करने से पहले सोचना कि लोभादि के अधीन होकर शक्ति से कम धर्म तो नहीं कर रहा हूँ ? जितना धर्म हुआ है वह प्रभु की आज्ञानुसार हुआ हो तो ही उसकी अनुमोदना करना एवं यदि ऐसा न हुआ हो तो गुरु भगवंत के पास दुःखार्द्र हृदय से उसकी आलोचना, निंदा, गर्हा करके आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न करना एवं उत्तरोत्तर यथाशक्ति धर्मानुष्ठान करने का संकल्प करना ।"

वीर्याचार के इस वर्णन के साथ जैन शासन में दर्शाए हुए पाँचों आचारों का संक्षिप्त वर्णन पूर्ण हुआ । इन आचारों को समझकर जो अपने समग्र जीवन को आचारमय बनाता है, उसको सुख का मार्ग शीघ्र मिल जाता है और जो आचार से चूक जाता है वह दुःख की गर्त में गिरता है । इसलिए आत्मिक सुख को चाहनेवाले साधक को इस सूत्र रूप आईने में अपने आप को देखकर आचार मार्ग में स्थिर होने का सतत प्रयत्न करना चाहिए ।

सुगुरु वंदन सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र द्वारा सुगुरु को वंदन किया जाता है, इसलिए इसका नाम '**सुगुरु वंदन सूत्र**' है । बिना कप्तान जैसे जहाज समुद्र पार नहीं कर सकता वैसे ही बिना सद्‌गुरु, हम भयंकर भवसागर पार नहीं कर सकते । सुगुरु के बिना अज्ञान के अंधकार को भेदकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं हो सकता, ज्ञान के बिना चारित्र का पालन नहीं हो सकता एवं चारित्र के पालन के बिना मोक्ष नहीं मिलता । इसी कारण से मोक्षार्थी आत्मा को सुगुरु का शरण स्वीकार करके, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए विधिपूर्वक वंदनादि करना चाहिए ।

इस सूत्र में विधिपूर्वक वंदन के लिए छः स्थान खूब सुंदर तरीके से बताए हैं।

१. विनयी शिष्य सर्वप्रथम सुगुरु के समक्ष वंदन करने की अपनी इच्छा व्यक्त करता है, वह '**इच्छानिवेदन**' नामक पहला स्थान है ।

२. शिष्य की इच्छा जानने के बाद, योग्य अवसर हो तो शिष्य की निर्जरा के अभिलाषी गुरु भगवंत शिष्य को वंदन करने की अनुज्ञा देते हैं, वह '**अनुज्ञापन**' नामक दूसरा स्थान है ।

३. गुरु की आज्ञा प्राप्त करने के बाद शिष्य अपना मस्तक झुकाकर तीन

बार गुरु के चरणों को स्पर्श करके गुरु का बहुमान करता है, उनकी महानता का स्वीकार करता है । यहाँ गुरु चरणों को स्पर्श करके शिष्य द्वारा गुरु के शरीर के सुख संबंधी पृच्छा की जाती है । वह **'अव्याबाध पृच्छा'** नाम का तीसरा स्थान है ।

४. शरीर संबंधी पृच्छा करने के बाद शिष्य संयम यात्रा के विषय में पृच्छा करता है । वह **'संयमयात्रा पृच्छा'** नाम का चौथा स्थान है ।

५. संयम पृच्छा करने के बाद शिष्य गुरु की इन्द्रियों एवं मन के संयम संबंधि पृच्छा करता है । वह **'यापनपृच्छा'** नाम का पाँचवा स्थान है ।

६. इन प्रत्येक प्रश्नों के उत्तर सुनकर शिष्य अत्यंत आह्लादित होता है । वह जानता है कि, गुणवान गुरु की किसी भी प्रकार की आशातना घोर पाप कर्मों का बंध करवाती है । अशुभ कर्मबंध से दुर्गति की परंपरा का सृजन होता है । ऐसा न हो, इसलिए अज्ञान से, अविवेक से, कषाय की प्रबलता से या अन्य किसी भी कारण से दिवस के दौरान गुरु की किसी भी प्रकार की आशातना हुई हो तो शिष्य उस अपराध की आत्मसाक्षी से निंदा करता है, गुरुसमक्ष गर्हा (विशेष निंदा) करता है, पुनः वैसा पाप न हो, ऐसा संकल्प करता है एवं दुष्कृत करनेवाली अपनी उस पापी अवस्था का त्याग करता है (वोसिराता है) । यह **'अपराध क्षमापना'** नाम का छट्ठा स्थान है । इस स्थान से यह सूत्र समाप्त होता है ।

इस तरीके से छः विभागों में बँटे हुए इस संपूर्ण सूत्र पर दृष्टिपात किया जाए, तो ज्ञात होता है कि, जैनशासन की इस एक छोटी सी क्रिया में भी कितनी गहराई है । विनय का कितना उच्चस्थान है एवं चित्तशुद्धि का कितना महत्त्व है ।

इस सूत्र का उपयोग द्वादशावर्त वंदन करने के लिए प्रतिक्रमणादि क्रियाओं में अनेक बार किया जाता है । वंदन के लिए जब इस सूत्र का उपयोग होता है, तब विशेष प्रकार के विनय के उपदर्शन के लिए यह दो बार बोला जाता है । उसमें प्रथम वंदन करते हुए अवग्रह से बाहर निकलते समय, "आवस्सहि

समाचारी' का सूचक 'आवस्सिआए' शब्द का प्रयोग होता है, जब कि दूसरे वंदन में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता ।

इस सूत्र का विवेचन आवश्यक निर्युक्ति, धर्मसंग्रह वगैरह ग्रंथों के आधार से किया गया है । विशेष जानकारी के अभिलाषी वहाँ से देख लें।

मूलसूत्र :

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए,
अणुजाणह मे मिउग्गहं ।
निसीहि
अहोकायं काय-संफासं
खमणिज्जो भे ! किलामो,
अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे ! दिवसो वइक्कंतो ?
जत्ता भे ?
जवणिज्जं च भे ?
खामेमि खमासमणो ! देवसिअं वइक्कमं
आवस्सिआए पडिक्कमामि ।
खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए,
तित्तीसन्नयराए,
जं किंचि मिच्छाए,
मण-दुक्कडाए वय-दुक्कडाए काय-दुक्कडाए,
कोहाए माणाए मायाए लोभाए,
सव्वकालिआए
सव्वमिच्छोवयाराए
सव्वधम्माइक्कमणाए,

आसायणाए

जो मे अइआरो कओ, तस्स खमासमणो !
पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।।

पद-५८ गुरु अक्षर-२५, लघु अक्षर-२०१ कुल अक्षर-२२६

अन्वय, संस्कृत छाया सहित शब्दार्थ :

१ - इच्छा निवेदन स्थान

शिष्य :- खमासमणो ! जावणिज्जाए निसीहिआए वंदिउं इच्छामि ।

शिष्य :- क्षमाश्रमण ! यापनीयया नैषेधिक्या वन्दितुं इच्छामि ।

शिष्य :- हे क्षमाश्रमण ! मैं यापनिका द्वारा एवं नैषेधिकी द्वारा वंदन करना चाहता हूँ ।

गुरु :- (छन्देणं) अथवा **(पडिक्खह/तिविहेणं)**

गुरु :- (छन्देन) अथवा (प्रतीक्षध्वम् / त्रिविधेन)

गुरु :- (इच्छा हो वैसा कर) अथवा (प्रतीक्षा कर/त्रिविध से वंदन करने का अभी प्रतिषेध करता हूँ ।)

२ - अनुपाज्ञापन स्थान

शिष्य :- मे मिउग्गहं अणुजाणह ।

शिष्य :- मम मितावग्रहम् अनुजानीत ।

शिष्य :- मुझे मितावग्रह में प्रवेश करने की अनुज्ञा प्रदान करे ।

गुरु :- (अणुजाणामि)

गुरु :- (अनुजानामि)

गुरु :- (मैं तुझे अनुज्ञा देता हूँ ।)

वसति में प्रवेश करते हुए जैसे 'निसीहि' कहते हैं, वैसे अनुज्ञा पाकर यहाँ भी अवग्रह में प्रवेश करते हुए 'निसीहि' कहते हैं ।

शिष्य :- निसीहि, अहोकायं काय-संफासं भे ! किलामो खमणिज्जो

शिष्य :- नैषेधिकी, अधःकायं काय-संस्पर्शं (करोमि । कायेन संस्पृशामि), भवद्भिः क्लमः क्षमणीयः

शिष्य :- पाप व्यापार का त्याग करता हूँ । आप के चरणों को (मेरी) काया द्वारा स्पर्श करता हूँ । हे भगवंत ! (उससे) कोई ग्लानि हो (तो) आप (मुझे) क्षमा करें ।

३ - अव्याबाध पृच्छा स्थान

शिष्य :- अप्पकिलंताणं भे ! दिवसो बहुसुभेण वइक्कंतो ?

शिष्य :- अल्पक्लान्तानां भवतां ! दिवसः बहुशुभेन व्यतिक्रान्तः ?

शिष्य :- अल्प क्लेशवाले आप का दिन बहुत सुखपूर्वक व्यतीत हुआ?

गुरु :- (तहत्ति)

गुरु :- (तथेति)

गुरु :- (वैसा ही है अर्थात् जिस प्रकार तु कहता है, उसी प्रकार मेरा दिन व्यतीत हुआ है ।)

४ - संयम यात्रा पृच्छा स्थान

शिष्य :- भे जत्ता ?

शिष्य :- भवताम् यात्रा ?

शिष्य :- आप की संयम यात्रा ठीक तरह से चल रही है न ?

गुरु :- (तुब्भं पि वट्टए ?)

गुरु :- (तवापि वर्तते ?)

गुरु :- (मेरी यात्रा तो ठीक चल रही है, तुम्हारी संयम यात्रा भी ठीक चल रही है ना ?)

५ - यापना पृच्छा

शिष्य :- भे च जवणिज्जं ?

शिष्य :- भवताम् च यापनीयम् ?

शिष्य :- आपकी इन्द्रियाँ एवं नोइन्द्रियाँ (मन) पीडा रहित होकर उपशम भाव में रहते हैं ?

गुरु :- (एवं)

गुरु :- (एवम्)

गुरु :- (ऐसा ही है)

६ - अपराध क्षमापना स्थान

शिष्य :- खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं खामेमि

शिष्य :- क्षमाश्रमण ! दैवसिकं व्यतिक्रमं क्षमयामि

शिष्य :- हे क्षमाश्रमण ! मुझ से दिन भर में कोई अपराध हुआ हो उसकी मैं क्षमा माँगता हूँ ।

गुरु :- (अहमवि खामेमि तुमं)

गुरु :- (अहमपि क्षामयामि त्वाम्)

गुरु :- (मैं भी तुम्हें खमाता हूँ)

शिष्य :- आवस्सिआए पडिक्कमामि ।

शिष्य :- आवश्यक्या प्रतिक्रामामि ।

शिष्य :- (चरण-करण योगरुप) आवश्यकी से जो विपरीत हुआ हो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।

शिष्य :- खमासमणाणं देवसिआए तित्तीसन्नयराए आसायणाए,

शिष्य :- क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या त्रयस्त्रिंशदन्यतरया आशातनया,

शिष्य :- (आप) क्षमाश्रमण संबंधी दिवस में हुई तैंतीस में से किसी भी आशातना से (लगे हुए पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।)

जं किंचि मिच्छाए; मण-दुक्कडाए, वय-दुक्कडाए, काय-दुक्कडाए;

कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए;

सव्वकालिआए, सव्वमिच्छोवयाराए, सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए

मे जो अइयारो कओ, तस्स खमासमणो !

पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।।७।।

१यत् किञ्चिद् मिथ्यया;

२मनो-दुष्कृततया, वचो-दुष्कृततया, काय-दुष्कृततया,

३क्रोध-युक्तया, मान-युक्तया, माया-युक्तया, लोभ-युक्तया;

४सार्वकालिक्या, सर्वमिथ्योपचारया, सर्वधर्मातिक्रमणया आशातनया,

५मया योऽतिचारः कृतः

६तं क्षमाश्रमण ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ।

१मिथ्याभाव से,

२मन दुष्कृत, वचन दुष्कृत, काय दुष्कृत (आशातना से);

३क्रोध-युक्त, मान-युक्त, माया-युक्त, लोभयुक्त; (हुई आशातना से)

४ सर्वकाल संबंधी (आशातना से), सर्व मिथ्या उपचार रूप (आशातना से), एवं सर्व (अष्ट प्रवचन मातारूप) धर्म की मर्यादा तोड़ने रूप आशातना से;

(इन में से) जिस किसी (भाव से) ५ मुझ से जो कोई अतिचार हुआ हो,

६ उसका हे श्रमाश्रमण ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, निंदा करता हूँ,

गर्हा करता हूँ (एवं दुष्कृतकारी ऐसी अपनी) आत्मा को वोसिराता हूँ ।

विशेषार्थ :

१ - इच्छानिवेदन स्थान :

इच्छामि खमासमणो[1] ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए - हे क्षमाश्रमण ! मेरी शक्तियों का पूर्ण उपयोग करके एवं प्राणातिपात आदि पाप प्रवृत्तियों का त्याग करके मैं आप को वंदन करना चाहता हूँ ।

जैन शासन का सिद्धांत है कि, कोई भी कार्य गुरु भगवंत की अनुज्ञा प्राप्त करके ही करना चाहिए । इस सिद्धांत के अनुसार, वंदन करने को इच्छुक शिष्य भी सर्वप्रथम अपनी इच्छा गुरु भगवंत को व्यक्त करता है,

"हे क्षमाश्रमण ! मैं आपको वंदन करना चाहता हूँ ।" यह शब्द बोलकर

1. खमासमणो - आदि शब्दों के विशेषार्थ के लिए देखें 'सूत्र संवेदना' भाग १, सूत्र ३।

शिष्य, क्षमाश्रमण ऐसे गुरु भगवंतों को अपना वंदन[2] स्वीकारने का अनुरोध करता है ।

खमासमणो - क्षमाश्रमण !

क्षमादि दश धर्म जिनमें मुख्यतया रहते हों, उनको क्षमाश्रमण कहते हैं अथवा तप, स्वाध्याय या ध्यानादिरूप साध्वाचार की प्रवृत्ति जो क्रोधादि दोषों के नाश के लिए एवं क्षमादि गुणों की प्राप्ति के लिए करते हों उनको क्षमाश्रमण कहते हैं । यहाँ यह शब्द गुरु भगवंतों को संबोधित करने प्रयुक्त हुआ है । इस सूत्र द्वारा ऐसे क्षमाश्रमण को वंदन करना है ।

जिज्ञासा : क्षमाश्रमण को वंदन किस लिए करना चाहिए ?

तृप्ति : परम सुखरूप मोक्ष को चाहनेवाला शिष्य समझता है कि कषायों के त्याग एवं क्षमादि गुणों के पालन के बिना सुख संभव नहीं, परन्तु उन कषायों का त्याग एवं क्षमादि गुणों की प्राप्ति अपने आप कर पाना संभव नहीं है। गुणसंपन्न गुरु भगवंत के प्रति बहुमान से ही ऐसे गुण प्रगट हो सकते हैं । **गुरु**

2. योगशास्त्र की वृत्ति में गुरुवंदन का खास अर्थ करते हुए बताया है कि, **'वन्दनं वन्दनयोग्यानां धर्माचार्याणां पच्चविंशत्यावश्यकविशुद्धं द्वात्रिंशद्दोषरहितं नमस्करणम्'** वन्दन अर्थात् वंदन के योग्य धर्माचार्यो को २५ आवश्यकों से विशुद्ध एवं ३२ दोषों से रहित किया हुआ नमस्कार
उसमें **२५ आवश्यक** की गणना इस तरीके से करते हैं -
"दो ओणयं अहाजायं किइकम्मं बारसावयं । चउसिरं तिगुत्तं च दुपवेसं एगनिक्खमणं ।।"
- आवश्यकनिर्युक्ति. १२०२
(२) दो अवनत, (३) एक यथाजात मुद्रा, (१५) बारह आवर्त्त (१९) चार शिरोनमन (२२) तीन गुप्ति (२४) दो प्रवेश (२५) एक निष्क्रमण
जो **३२ दोष** गुरु को वंदन करते समय टालने योग्य हैं, वे निम्नलिखित हैं :
१. आदरहीन होना, २. अकडाई रखना, ३. अधीर होना, ४. सूत्रों का गलत उच्चारण करना ५. कूहकर वंदन करना, ६. जबरदस्ती वंदन करना, ७. आगे-पीछे हलन-चलन करना, ८. वंदन करते समय फिरते रहना (जल मे मछली की तरह) ९. मन में द्वेष रखकर वंदन करना, १०. दो हाथ घुंटने के बाहर रखकर वंदन करना, ११. भय से वंदन करना, १२. 'अन्य भी मुझे वंदन करेंगे, इसलिए मैं वंदन करूं' ऐसी बुद्धि से वंदन करना १३. मैत्री की इच्छा से वंदन करना, १४. होशियारी बताने के लिए वंदन करना, १५. स्वार्थ बुद्धि से वंदन करना, १६. चोरी-छुपी से वंदन करना, १७. अयोग्य समय पर वंदन करना, १८. क्रोध से वंदन करना १९. चुपके से वंदन करना, २०. खुश रखने के लिए वंदन करना

भगवंत के प्रति बहुमान भाव को प्रकट करनेवाली क्रिया ही यह वंदन क्रिया है । इसलिए गुणवान के प्रति बहुमान भाव प्रगट करने एवं उसकी वृद्धि करने के लिए क्षमाश्रमण को पुनः पुनः वंदन करना चाहिए।

अब वंदन करने की इच्छावाला शिष्य, किस प्रकार वंदन करना चाहता है, यह स्वयं व्यक्त करता है -

जावणिज्जाए निसीहिआए - "हे भगवंत ! मैं यापनिका एवं नैषेधिकी द्वारा आप को वंदन करना चाहता हूँ ।"

यापनिकापूर्वक वंदन करना अर्थात् मन एवं इन्द्रियों को काबू में लेकर वंदन करना । मन, वचन, काया को अन्यत्र जाने से रोककर, मन को एक मात्र गुरु गुण स्मरण में जोड़कर, वाणी को नम्र बनाकर, काया को सुचेष्टा में स्थापितकर वंदन करना। नैषेधिकीपूर्वक वंदन करना अर्थात् पाप प्रवृत्तियों का त्याग करके हिंसादि पाप या अन्य दोषों को टालते हुए पूर्ण सावधानी रखकर, समझ और शक्ति का पूर्ण उपयोग करके वंदन करना । शिष्य का इस तरीके से यापनिका एवं नैषेधिकीपूर्वक वंदन करने का प्रयत्न शिष्य में संयम, क्षमादि गुणों की वृद्धि करवाता है ।

यह पद बोलते समय शिष्य विनम्र भाव से विनती करता है - "हे भगवन्त ! आपकी भक्ति करने के लिए मेरे पास कोई विशिष्ट शक्ति एवं आपको परखने की कोई विशिष्ट बुद्धि नहीं है, तो भी जितनी बुद्धि एवं शक्ति है, उन सब का उपयोग करके निरवद्य भाव से आपको वंदन करने की मेरी भावना है । यदि आप को योग्य लगे तो कृपा करके आप मुझे अनुज्ञा दें ।"

---

२१. निंदा करते हुए वंदन करना, २२. वंदन किया न किया मगर दूसरी बातों में लग जाना, २३. कोई देखे तो अच्छी तरह वंदन करना, परन्तु अंधेरा या दूरी हो तो खाली खड़े रहकर वंदन करना, २४. आवर्त्त समय हाथ ठीक तरह से ललाट को न लगाना, २५. राज-भाग (टेक्ष) चूकता करने की तरह तीर्थंकर की आज्ञा समझकर वंदन करना, २६. लोकापवाद से बचने के लिए वंदन करना, २७. मस्तक से रजोहरण का बराबर स्पर्श न करना, २८. कम अक्षर बोलना, २९. वंदन करके 'मत्थएण वंदामि' खूब जोर से बोलना, ३०. बराबर उच्चारण किए बिना मन में ही बोलना, ३१. खूब जोर से बोलकर वंदन करना, ३२. हाथ घुमाकर सब को एक साथ वंदन करना ।

शिष्य की वंदन करने की इच्छा जानने के बाद गुरु को यदि ऐसा लगे कि इस क्रिया से शिष्य को अवश्य कर्म की निर्जरा होगी, तो शिष्य की निर्जरा में निमित्त बनना मेरा कर्तव्य है, मेरा औचित्य है, ऐसा सोचकर, यदि अन्य कोई विशेष कार्य न हो तो शिष्य को वंदन करने की अनुमति देते हुए कहते हैं -

[छंदेणं] - तेरी इच्छा पूर्ण कर ।

इस प्रकार गुरु भगवंत अनुमति दें परन्तु यदि उस समय गुरु भगवंत अन्य किसी विशेष कार्य में व्यस्त हो एवं वंदन की क्रिया से उनके कार्य में विक्षेप हो तो 'पडिक्खह' शब्द से 'अभी नहीं' ऐसा कहते हैं अथवा 'तिविहेणं' शब्द से मन-वचन-काया से वंदन करने का प्रतिषेध करते हैं। उस समय शिष्य 'मत्थएण वंदामि' बोलकर संक्षेप में वंदनकर वापिस जाता है ।

इच्छा-निवेदन-स्थान के इस पद को बोलते हुए एवं सुनते हुए शिष्य सोचता है -

"जैन शासन की समाचारी कितनी अद्भुत है ! आत्म विकास की एक क्रिया भी स्वेच्छा से नहीं करनी है, किसी के कार्य में अडचन आए वैसे भी नहीं करनी । स्व-पर सब का आत्म विकास हो वैसे ही करनी है ।

मैं मूढ आज तक ऐसा मानता रहा कि अपनी मति के मुताबिक स्वेच्छा से कार्य करने से सुख और आनंद मिलेगा । परन्तु आज समझ में आया कि आज्ञा के पारतंत्र्य के बिना, गुणवान गुरु के मार्गदर्शन के अनुसार चले बिना, कभी भी सुख या शांति नहीं मिलेगी, इसलिए मैं संकल्प करता हूँ कि, ऐसे गुणवान गुरु की आज्ञा बिना अब मैं कहीं भी आगे नहीं बढ़ूँगा ।"

२. अनुज्ञापन स्थान :

वंदन की आज्ञा पाकर शिष्य गुरु से कहता है –

अणुजाणह मे मिउग्गहं – हे भगवंत ! मुझे मित अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा दें ।

गुरु भगवंत के खूब नजदीक में रहने से शिष्य के मलिन वस्त्र या शरीरादि के स्पर्श से गुरुदेव की आशातना नही होनी चाहिए, उनके एकाग्रता पूर्ण कार्य में अंतराय पैदा नही होना चाहिए इस आशय से शिष्य हमेशा गुरु भगवंत का स्वदेह प्रमाण अर्थात् कम से कम गुरु से साडे तीन (३।।) हाथ का अंतर (अवग्रह) रखता है एवं जब भी वंदनादि कोई कार्य उपस्थित हो, तब गुरु की अनुज्ञा लेकर ही शिष्य अवग्रह में प्रवेश करता है ।

इसलिए वंदन का इच्छुक शिष्य 'अणुजाणह में मिउग्गहं' यह शब्दों को बोलकर गुरु भगवंत के पास मित अर्थात् कम से कम ३$^{१}/_{२}$ हाथ के अवग्रह में प्रवेश की अनुज्ञा मांगता है ।

अनुज्ञा देते हुए गुरु भगवंत कहते हैं :

[अणुजाणामि] – 'मैं अनुज्ञा देता हूँ' अर्थात वंदन करने की तेरी भावना को तू पूर्ण कर ।

गुरु की अनुज्ञा मिलते ही, तीन पीछे के, तीन आगे के एवं तीन भूमि के इस प्रकार नव संडासा की प्रमार्जना करके मित अवग्रह में प्रवेश करता हुआ शिष्य कहता है ।

निसीहि – पाप प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ ।

देव-गुरु के अवग्रह में प्रवेश करते समय पापवृत्तियों को त्याग करने का संकल्प करने के साथ मन-वचन-काया से देव-गुरु की किसी भी प्रकार से आशातना न हो जाए उसकी बहुत सावधानी रखने हेतु 'निसीहि' शब्द बोला जाता है । यह शब्द बोलने के साथ ही शिष्य विशिष्ट जागृतिपूर्वक गुणवान गुरु के गुणों में उपयोगवाला बनता है ।

अनुज्ञापन स्थान के इन पदों के उच्चारण के समय मन में ऐसा भाव जगना चाहिए कि गुरु मेरे समक्ष ही हैं एवं मैं उनको विनम्र भाव से बिनती करता हूँ कि 'हे भगवंत ! कृपा करके मेरी वंदन की भावना को सार्थक करने के लिए अपने समीप आने की मुझे अनुज्ञा दें ।' गुरु की अनुज्ञा मिलते ही शिष्य भी गुणवान गुरु भगवंत की किसी भी प्रकार की आशातना न हो उस भाव से 'निसीहि' बोलकर गुरु के नजदीक जाता है एवं भावपूर्ण हृदय से गुरु वंदना के लिए तत्पर बनता है ।

निसीहिपूर्वक मित अवग्रह में प्रवेश करके, यथाजात मुद्रा में अर्थात् जन्म समय बालक की जैसी मुद्रा होती है, वैसी मुद्रा में, गुरु के सामने बैठकर, गुरु के प्रति अपने अन्तःकरण में स्थित अहोभाव की वृद्धि करने के लिए शिष्य कहता है-

अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे ! किलामो - हे भगवंत ! अधः कायरूप आप के चरणों को मेरी काया द्वारा स्पर्श करता हूँ । वैसा करते हुए आपको कोई तकलीफ हो तो कृपा करके मुझे क्षमा कीजिए ।

ये शब्द बोलते हुए शिष्य गुरु के चरणों को तीन बार स्पर्श करता है । प्रतिक्रमण आदि क्रिया में हर एक के लिए चरणस्पर्श सम्भवित नहीं है। इसलिए साधु रजोहरण में एवं श्रावक चरवले में गुरु के चरणों की स्थापना करके "अ-हो-का-यं-का-य-संफासं" के प्रत्येक अक्षर को अलग-अलग करके स्पष्ट स्वर में बोलता है । वह इस तरीके से -

'अ' अक्षर रजोहरण को दसों उंगलियों से स्पर्श करते हुए बोलता है ।

'हो' अक्षर ललाट को दसों उंगलियों से स्पर्श करते हुए बोलता है ।

'का' अक्षर रजोहरण को दसो उंगलियों से स्पर्श करते हुए बोलता है ।

'यं' अक्षर ललाट को दसों उंगलियों से स्पर्श करते हुए बोलता है ।

'का' अक्षर रजोहरण को दसों उंगलियों से स्पर्श एवं

'य' अक्षर ललाट को दसों उंगलियों से स्पर्श करते हुए बोलता है ।

यहाँ वंदना के तीन आवर्त निष्पन्न होते हैं ।

'संफासं' पद रजोहरण या चरवले के उपर की हुई गुरु चरण की स्थापना उपर दो सीधे हाथ रखकर, दोनों हाथ की हथेली पर मस्तक रखकर, शीर्षनमन करते हुए बोलता है। यहाँ पहला शिरोनमन होता है ।

यह पद बोलते हुए, जिनका एक एक आत्म प्रदेश क्षमादि गुणों से भरा हुआ है, वैसे गुरु के चरणों का शिष्य स्पर्श करता है । इस स्पर्श से शिष्य के हरेक रौंगटे में आनंद की एक लहर फैली जाती है। अपनी आत्मा में कोई नई ही चेतना के संचार का अनुभव होता है । मानो गुरु की साधना से पावन बनी चेतना खुद की आत्मा के प्रत्येक प्रदेश को पावन कर रही हो । इस प्रकार गुरु चरण का स्पर्श करते हुए शिष्य अत्यंत आनंद विभोर बन जाता है । ऐसा होते हुए भी गुरु के प्रति प्रशस्त राग होने से वह विवेक नहीं छोड़ता ।

विवेकपूर्वक जोड़े हुए दोनों हाथ ललाट पर लगाकर वह नम्रतापूर्वक कहता है -

खमणिज्जो भे ! किलामो - अर्थात् मैंने आप के चरणों का स्पर्श किया उससे आप के मन में कोई ग्लानि हुई हो या शरीर को कोई तकलीफ पहुंची हो तो मुझे क्षमा करें !

मेरे कारण गुरु के तन मन को लेश मात्र भी पीड़ा न हो, वैसी भावना शिष्य के मन में अवश्य रहती है, पर अब गुरु की पवित्र काया का स्पर्श करना, शिष्य को अपने शुभ भाव की वृद्धि का उपाय लग रहा है । इसलिए शिष्य साधना से पवित्र बनी हुई गुरु की काया को स्पर्श तो करता है, परन्तु अपने कठोर हाथ के स्पर्श से शायद गुरु को ग्लानि हुई होगी ऐसी संभावना से विवेकी शिष्य को दुःख भी होता है । इसलिए दुःखार्द्र हृदय से वह कहता है, 'भगवंत ! मेरा यह अपराध है, इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए ।'

कायिक खेद के परिहार के लिए जो शिष्य इतना यत्न करता हो वह शिष्य गुरु के मन को थोड़ा भी खेद न हो, उसके लिए गुर्वाज्ञापालन में कितना तत्पर रहता होगा उसका थोड़ा सा ख्याल इस पद द्वारा आ सकता है ।

अनुज्ञापनस्थान के शब्द बोलते एवं सुनते हुए सोचना चाहिए

"रागियों के नजदीक जाकर, रागी पात्रों को स्पर्श करके राग को बढ़ाने का काम तो मैं अनंतकाल से करता आया हूं, परन्तु आज मेरा पुण्योदय हुआ है कि वैरागी गुरु भगवंत को स्पर्श कर अपने राग को तोड़ने का मुझे सुनहरा मौका मिला है । मैं आज धन्य बना हूँ ।"

३. अव्याबाधपृच्छा स्थान :

गुरुवंदन करने के बाद उनकी साधना आदि के बारे में जानने का इच्छुक साधक उस संबंधी प्रश्न करता है :

अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ? - अल्प क्लेशवाले हे भगवंत ! आप का दिन बहुत सुखपूर्वक बीता ?

गुरु के संयमपूत शरीर को स्पर्श करते हुए गुरुवंदन करके आनंदित हुआ शिष्य, गुरु को सुखशाता की पृच्छा करते हुए कहता है, "हे भगवंत ! आप रति-अरतिरूपी क्लेश के भावों से तो पर हो गए हैं क्योंकि बाह्य वस्तुओं का सद्भाव अभाव या दुरभाव आप को व्याकुल नहीं कर सकता, अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आप को व्यग्र नहीं कर सकती, सत्कार या सन्मान आप के लिए अहंकार जनक नहीं बन सकता, अपमान या तिरस्कार आपको दीन-हीन नहीं बना सकता । इसलिए आपका अंतरंग मन तो पीड़ामुक्त ही होगा, परन्तु कर्माधीन इस काया में पीडा की संभावना है । इसलिए आप के प्रति सद्भावना के कारण पूछता हूँ कि, आपका दिन सुखपूर्वक बीता है ना ?"

यह सुनकर गुरु उत्तर देते हुए कहते हैं -

[तहत्ति] - 'तुम कहते हो वैसा ही है' अर्थात् मेरा दिन सुखपूर्वक बीता है।

गुरुभगवंत संयमजीवन की सभी क्रियाओं द्वारा आत्मभाव को विकसित करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं । इस कारण वे सदा चित्त से स्वस्थ होते हैं एवं आत्मिक आनंद का अनुभव करते हैं । ऐसे गुरु शिष्य से कहते

हैं - "मेरा दिन खूब सुखपूर्वक बीता है" ये शब्द सुनकर शिष्य को अत्यंत आनंद होता है । यह आनंद गुरु के सत्कार्य की अनुमोदना स्वरूप है । गुरु भगवंत के स्वास्थ्य के विषय में शिष्य की चिंता का भाव एवं 'तहत्ति' रूप गुरु का प्रत्युत्तर सुनकर प्रकट हुए आनंद का भाव, ये दोनों शुभ परिणाम, गुणप्राप्ति में विघ्न करनेवाले कर्मों का नाश करते हुए शिष्य के लिए गुण प्राप्ति का कारण बनते हैं ।

अव्याबाध-पृच्छा-स्थान के इन पदों को बोलते एवं सुनते हुए सोचना चाहिए,

'जिनके स्वास्थ्य की सुरक्षा में केवल अशुभ कर्मबंध था वैसे कुटुंब-परिवार, स्नेही-स्वजनों के शरीर की गलत चिंताएँ करके मैंने अपना कीमती समय एवं शक्ति को व्यर्थ गँवाया है एवं बहुत कर्मों का बंध किया है । मेरा सद्भाग्य है कि आज संसार सागर से पार ले जानेवाले जहाज समान सद्गुरु भगवंत मुझे मिले हैं । तन एवं मन द्वारा वे मेरे जैसे अनेकों के उपर भावोपकार कर रहे हैं । अब मेरा कर्तव्य है कि, अपने शरीर का बलिदान करके भी उनकी सुरक्षा करूँ क्योंकि उनके शरीर की अनुकूलता में हम सबकी आत्मा की अनुकूलता है । उनके द्रव्यप्राण की अबाधा में हमारे भावप्राण सुरक्षित हैं । उनका दिन अच्छी तरह गुजरे उसमें ही हमारा दिन, घड़ी एवं पल सुधरनेवाले हैं ।'

४. संयमयात्रा पृच्छा स्थान :

दिन संबंधी सुखशाता की पृच्छा करने के बाद शिष्य गुरु की संयम यात्रा के विषय में पृच्छा करता है :

जत्ता भे ? - हे भगवंत ! आप की तप एवं संयम यात्रा (सुखपूर्वक) बीती है ?

विनय की वृद्धि के लिए पुनः पूछा हुआ यह प्रश्न सुनकर गुरु भगवंत भी कहते हैं :

['तुब्भं पि वट्टए' ?] मेरा तप-संयम तो सुंदर तरीके से चल रहा है, क्या तुम्हारा तप-संयम प्रगति के पंथ पर प्रवर्तमान है ?

यह सुनकर शिष्य प्रफुल्लित हो जाता है । उसे लगता है कि मेरी भी हित चिंता करनेवाले गुरु मेरे उपर हैं । इस प्रकार परस्पर तप-संयम की पृच्छा से संयम के प्रति आदर भाव में अत्यंत वृद्धि होती है । फल स्वरूप चारित्रादि गुणप्राप्ति में विघ्न करनेवाले कर्मों का विनाश होता है एवं प्राप्त हुए चारित्र की शुद्धि तथा वृद्धि होती है ।

इस पद के तीन अक्षर निम्नोक्त विशिष्ट तरीके से बोले जाते हैं -

'जत्' - शब्द अनुदात्त[3] स्वर से बोला जाता है एवं उस समय दों हाथों द्वारा रजोहरण या चरवले के उपर की हुई गुरुचरण की स्थापना को स्पर्श किया जाता है ।

'ता' - शब्द स्वरित[3] स्वर से बोला जाता है, तब चरण स्थापना पर से उठाए हुए हाथ मुँह की और सीधे किए जाते है ।

'भे' - शब्द उदात्त स्वर[3] में बोला जाता है एवं तब दृष्टि गुरु समक्ष रखकर दोनों हाथों की दसों ऊंगलियाँ ललाट पर लगाई जाती हैं ।

3. उदात्त - अनुदात्त - स्वरित - हरेक स्वर के उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित इस प्रकार तीन भेद होते हैं । पूर्व काल में उदात्त आदि तीन स्वरों का प्रयोग लोक में भी किया जाता था, परन्तु वर्तमान में इन स्वरों का प्रचार लोक में नष्टप्राय हो गया है । पाणिनि व्याकरण में स्वर की इन तीन भेदों की व्याख्या स्पष्ट की गई है ।
उच्चैरुदात्त : - १ । २ । २९ ।।
ताल्वादिषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् ।
तालु आदि उच्चरण स्थान में उपर के भाग में से जो स्वर बोला जाता है, उस **उदात्त** कहते है । कुछ लोग जोर से बोलने को 'उदात्त' मानते है, परन्तु वह अयोग्य है ।

संयमयात्रा पृच्छा स्थान के इन पदों को बोलते और सुनते हुए सोचना चाहिए

"कुटुंब परिवार की, खाने-पीने की एवं पैसे टके की चिंता में मैंने कितने ही जन्म बेकार में गँवा दिए । जैन शासन की कैसी बलिहारी है ! गुरु-शिष्य का कैसा अपूर्व संबंध है ! यहाँ एक-दुसरे की आत्मा या आत्मा के गुणों के सिवाय व्यर्थ और कोई चिंता ही नहीं है । यही तो सच्ची मैत्री है, यही सच्ची पारिवारिक भावना है । वास्तविक सुख का यही सचोट मार्ग है ।

मेरा महान पुण्योदय है कि ऐसे योगियों के कुल में मुझे स्थान मिला है । ऐसे परिवार का सदस्य बनने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है । बस, इस परिवार का सदस्य होते हुए मैं भी इस प्रकार परस्पर सब की आत्मा की चिंता करनेवाला बनूं ।"

नीचैरनुदात्तः - १ । २ । ३० ।।

ताल्वादिषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात् ।

तालु आदि उच्चारण स्थान के नीचे के भाग में से जो बोला जाता है उसे **अनुदात्त** कहते है ।

समाहारः स्वरितः - १ । २ । ३१ ।।

उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात् ।

उदात्त और अनुदात्त जहाँ एकत्र होते हैं उस स्वर को **स्वरित** स्वर कहते है। इस में ह्रस्व स्वर में एक मात्रा होने से उदात्त का आधा भाग और अनुदात्त का आधा भाग होता है । दीर्घ स्वर में दो मात्रा होने से अनुदात्त की आधी मात्रा और उदात्त की देढ मात्रा होती है। प्लुत स्वर में ३ मात्रा होने से अनुदात्त की आघी मात्रा और उदात्त की ढाई मात्रा होती है ।

वर्तमान में इनका प्रयोग वेद में देखने को मिलता है । वेद में इन स्वरों का संकेत चिह्नों द्वारा किया गया है । उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं होता । अनुदात्त स्वर के नीचे आडी रेखा तथा स्वरित के उपर खुड़ी रेखा का चिह्न होता है जैसे,

उदात्त - अ । इ । उ । वगैरह...

अनुदात्त - अ॒ । इ॒ । उ॒ । वगैरह...

स्वरित - अ॑ । इ॑ । उ॑ । वगैरह...

५. यापना पृच्छा स्थान :

तप-संयम की पृच्छा के बाद अब संयम साधना में उपयोगी मन एवं इन्द्रिय संबंधी पृच्छा करते हुए शिष्य कहता है :

जवणिज्जं च भे ?- हे भगवंत ! आप का मन एवं इन्द्रियाँ उपशम आदि प्रकार द्वारा संयमित रहते हैं ?

मन एवं इन्द्रियाँ साधना के अंग हैं । वे बाधा रहित हो तो मोक्ष की साधना भी ठीक तरीके से हो सकती है एवं रोगादि के कारण उनमें उपद्रव आए तो साधना में शिथिलता आती है; तप संयमादि की क्रिया बिगडती है और आत्मा का आनंद क्षीण होता है ।

सतत संयम की साधना करनेवाले गुरु भगवंत के मन तथा इन्द्रियाँ प्रायः संयमित होते हैं, इसलिए उपशम भाव में ही होती हैं; इसके बावजूद विशेष निमित्त पाने पर कभी छद्मस्थ गुरु भगवंत का मन भी उद्विग्न, उत्सुक या आवेश युक्त हो सकता है । जब मन ऐसा बने तब तप एवं संयम की साधना भी आत्मा को आनंद दिलाने में असमर्थ बन जाते है । इस कारण से गुरु के सुख की सतत चिंता करते हुए शिष्य पूछता है -

"भगवंत ! आप का मन एवं इन्द्रियाँ रोगरहित होकर उपशम भाव में प्रवर्तमान हैं ? अर्थात् मन एवं इन्द्रियों द्वारा आप की संयम साधना सुंदर चल रही है ?"

वंदनार्थी साधक को संयमादि गुणों के प्रति अत्यंत बहुमान होता है । इसलिए वह इस प्रकार गुरु के संयम की चिंता करते हुए प्रश्न पूछकर गुरु के संयम साधक योगों का अनुमोदन करता है एवं उसके द्वारा अपने संयमादि योगों की वृद्धि करता है । गुरु के प्रति इस प्रकार का विनय शिष्य में भी उपशमादि गुणों का प्रादुर्भाव करता है ।

इस प्रश्न का जवाब देते हुए गुरु कहते हैं :

['एवं'] - 'हाँ' इस प्रकार ही है ।

'तुम जिस प्रकार से पूछ रहे हो उस प्रकार ही मेरा मन एवं मेरी इन्द्रियाँ उपशम भाव में स्थिर हैं ।' आत्मिक गुण संपत्ति में रमण करनेवाले गुरु का यह उत्तर सुनकर शिष्य को अत्यंत हर्ष होता है, उसका चित्त प्रमुदित होता है । इससे उसमें गुणप्राप्ति के लिए शक्ति का संचय होता है, जो परंपरा से उसे अनासक्त भाव तक पहुँचाती है ।

जिज्ञासा : 'बहुसुभेण भे' - पद द्वारा आप का दिन सुखपूर्वक बीता है ? ऐसा पूछने से पूर्व के दोनों प्रश्नों का जवाब मिल गया था, फिर भी दुबारा संयम यात्रा एवं यापनिका विषयक अलग प्रश्न पूछने की क्या आवश्यकता है ?

तृप्ति : गुरु संबंधी अनेक कार्यों में तप एवं संयमरूप कार्य का विशेष प्राधान्य है । इसलिए **'जत्ता भे'** शब्द से संयम यात्रा संबंधी अलग पृच्छा की गई है । इसके अलावा, आत्माभिमुख बनी हुई गुरु भगवंतों की इन्द्रियाँ एवं मन साधना में बाधक नहीं बनता । रोगादि की प्रतिकूलता में भी वे तो मस्ती से अपनी साधना करते रहते हैं, पर गुरु के प्रति भक्तिवाले साधक की ऐसी सतत भावना रहती है कि, यदि मेरे गुरु भगवंत की इन्द्रियाँ एवं मन अनुकूल हों, रोगादि पीडा से रहित हों, तो वे उत्तम साधना कर सकेंगे । इसलिए 'जवणिज्जं' शब्द द्वारा वह मन एवं इन्द्रियाँ संबंधी अलग पृच्छा करता है ।

ये शब्द भी प्रथम के दो पदों की तरह निम्नोक्त विशिष्ट तरीके से बोले जाते हैं । -

ज - अनुदात्त स्वर से, चरण-स्थापना को स्पर्श करते हुए ।

व - स्वरित स्वर से, ललाट की तरफ मध्य में हाथ सीधा करते समय।

णिज् - उदात्त स्वर से, ललाट स्पर्श करते हुए ।

जं - अनुदात्त स्वर से, चरण-स्थापना को स्पर्श करते हुए ।

च - स्वरित स्वर से, ललाट तरफ मध्य में आते हुए हाथ सीधा करके,

भे - उदात्त स्वर से, ललाट स्पर्श करते हुए ।

यहाँ वंदन के दूसरे तीन आवर्त निष्पन्न होते हैं । इस तरह कुल दो वंदन के बारह आवर्त होते हैं ।

यापना पृच्छनास्थान के इन दो पदों का उच्चारण एवं श्रवण करते हुए सोचना चाहिए,

"कहाँ मेरी अनियंत्रित इन्द्रियाँ एवं मन और कहाँ मेरे गुरु भगवंत का सदा उपशम भाव में झूलता मन एवं इन्द्रियाँ ! ऐसे गुरु भगवंत को नमस्कार करके अंतर की एक अभिलाषा है कि, मैं भी कषायों का उपशम करने में समर्थ बनूँ एवं उनकी कृपा पाकर अनादिकाल से विषयों में आसक्त बनी हुई अपनी इन्द्रियों को भी संयमित बनाऊं ।"

६. अपराधक्षमापना स्थान :

इस प्रकार संयमादि विषयक पृच्छा करने के बाद, गुणवान गुरु की आशातना भवभ्रमण की वृद्धि का कारण बनती है। अतः भवभीरु शिष्य अपने अपराध की क्षमापना करने के लिए कहता है :-

खामेमि खमासमणो ! देवसिअं वइक्कमं - हे क्षमाश्रमण ! दिन में हुए व्यतिक्रम-अपराधों की मैं क्षमा मांगता हूँ ।

शिष्य गुरु से कहता है कि - 'हे भगवंत ! आज के दिन विनय, वैयावच्च आदि कोई भी कार्य करते हुए अनाभोग से, सहसात्कार से या कषायादि दोषों के अधीन होकर आप के प्रति मेरा कोई भी अविनय, अपराध हुआ हो तो उसकी मैं क्षमायाचना करता हूँ' । किस प्रकार के अपराध हो सकते हैं, उसे आगे सूत्रकार खुद ही स्पष्ट करेंगे ।

इस पद का उच्चारण करते समय गुणवान गुरु के प्रति हुए अपराध का स्मरण करके ऐसे अपराध पुनः पुनः न हों वैसे दृढ़ प्रतिधान पूर्वक गुरु भगवंत से क्षमापना करनी चाहिए; तो ही प्रमादादि दोषों से हुए अपराध टल सकते हैं, उपयोगशून्यता से इन पदों को बोला जाए तो कोई अर्थ नहीं निकलता।

शिष्य के ये शब्द सुनकर गुरु कहते हैं -

[अहमवि खामेमि तुमं] - मैं भी तुम्हें खमाता हूं ।

शिष्य के हित के लिए गुरु भी जब सारणा[4], वारणा, चोयणा या पडिचोयणा करते हैं, तब कभी अपनी असहिष्णुता के कारण कषाय के अधीन हुए हों तो भी अपने समर्पित शिष्य के हित की चिंता करनी गुरु का कर्तव्य है, परन्तु अपने प्रमादादि-दोषों के कारण शिष्य के हित की उपेक्षा हुई हो तो इन शब्दों द्वारा गुरु भी शिष्य से क्षमायाचना करते हैं ।

जिज्ञासा : गुरु के प्रति हुए अपराधों के लिए शिष्य क्षमा मांगें वह तो ठीक है, परन्तु गुरु शिष्य से क्षमा मांगे, क्या यह योग्य है ?

तृप्ति : जैनशासन अत्यंत विवेक प्रधान है एवं सूक्ष्म भावों को देखनेवाला है । किसी के भी अशुभ भाव अहित करनेवाले ही होते हैं, चाहे वे गुरु के हों या शिष्य के । इसलिए जिस शिष्य की जिम्मेदारी गुरु ने स्वीकार की हो, उसके हित की उपेक्षा या उसके प्रति कषाय कृत अनुचित व्यवहार गुरु के लिए भी कर्मबंधन का ही निमित्त बनता है । इसलिए ऐसी कोई भी भूल हुई हो, तो पुनः ऐसी भूल न हो वैसे भावपूर्वक गुरु भी इन शब्दों द्वारा क्षमा मांगे वह उचित ही है एवं यह उनकी महानता और सरलता का भी सूचक है ।

उसके बाद सामान्य से क्षमा मांगते हुए शिष्य कहता है :-

आवस्सियाए[5] पडिक्कमामि - आवश्यकी संबंधी मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।

---

4 १. शिष्य को कर्त्तव्य का स्मरण करवाना **सायणा** है ।
२. शिष्य को नम्र शब्दों द्वारा अकर्तव्य से रोकना **वायणा** है ।
३. नम्र शब्दों से सारणा-वायणा करते हुए भी परिणाम न आए तो कठोर शब्दों से सायणा-वायणा करना **चोयणा** है ।
४. कठोर शब्दों से सारणा-वायणा करने के बाद भी परिणाम न आए तो तर्जन-ताडन आदि द्वारा सारणा-वायणा करना **पडिचोयणा** है ।

5 'अणुजाणामि मे मिउग्गहं' - इन शब्दों द्वारा शिष्य ने गुरु के मित अवग्रह में प्रवेश करने की अनुज्ञा मांगी थी एवं निसीहि कहकर अवग्रह में प्रवेश किया था । उसके बाद अवग्रह से बहार निकलते समय 'आवस्सहि' समाचारी का पालन करने के लिए आवस्सिआए शब्द बोलकर वह अवग्रह के बहार निकलता है । दूसरी बार जब वंदन करता है, तब अवग्रह में रहकर ही आलोचना आदि कार्य करने से 'आवस्सिआए' शब्द का प्रयोग जरूरी नहीं रहता ।

दिन में अवश्य करने योग्य चरण-करण के जो योग हैं, उन्हें आवश्यकी कहते हैं । उन सब को गुरु के अधीन होकर अप्रमत्त भाव से करना है परन्तु प्रमादादि दोषों के कारण वे कर्तव्य गुरु के बताए हुई विधि से न किए हों, गुरु ने कहा वैसे किया हों परन्तु ऊपरी तौर से किये हों और आत्मिक भाव से न किए हों, लक्ष्य के साथ मन-वचन एवं काया का योजन न किया हो, तो ये सब आवश्यकी संबंधी अपराध हैं । उन सब अपराधों का हे भगवंत ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् पुनः वह अपराध न हो इस प्रकार उनसे पीछे हटता हूँ ।

इन सब अपराधों की सामान्य रूप से क्षमापना करने के बाद अब विशेष रूप से क्षमापना करने के लिए शिष्य कहता है -

खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए तित्तिसन्नयराए - दिन के दौरान (आप क्षमाश्रमण की) तैंतीश में से कोई भी आशातना हुई हो, (उनका हे क्षमाश्रमण ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।)

गुरुवंदन भाष्यादि में गुरु संबंधी तैंतीस आशातनाएँ[6] बताई गई हैं । इन

6. तैंतीस आशातनाओं की गिनती निम्नलिखित प्रकार से होती है -
   (१) कारण के बिना गुरु के बहुत पास रहकर आगे चलना ।
   (२) कारण के बिना गुरु के समीप रहकर बगल में चलना ।
   (३) कारण के बिना गुरु के पीछे बिल्कुल नजदीक चलना ।
   (४) कारण के बिना गुरु के आगे ही खड़ा रहना ।
   (५) कारण के बिना गुरु के बगल में एकदम नजदीक खड़ा रहना ।
   (६) कारण के बिना गुरु के पीछे एकदम नजदीक खड़े रहना ।
   (७) कारण के बिना गुरु के आगे बैठना ।
   (८) कारण के बिना गुरु के करीब बगल में बैठना ।
   (९) कारण के बिना गुरु के पीछे नजदीक से बैठना ।
   (१०) गुरु के पहले स्थंडिल भूमि से वापिस आना ।
   (११) गुरु किसी के साथ बात करे तो पहले खुद बातचीत करना ।
   (१२) गुरु के साथ ही बाहर से आने पर भी पहले 'इरियावहियं' करना ।
   (१३) दूसरों के पास गोचरी की आलोचना करने के बाद गुरु के पास आलोचना करना।
   (१४) गोचरी दूसरे को बताने के बाद गुरु को बताना ।
   (१५) गुरु की आज्ञा के बिना गोचरी किसी को देना ।
   (१६) प्रथम दूसरे को निमंत्रण देकर बाद में गुरु को निमंत्रण देना ।
   (१७) गुरु को जैसा-तैसा देकर अच्छा अच्छा खुद ले लेना ।

तैंतीस आशातनाओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावरूप चार प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं ।

सुयोग्य शिष्य को संयम साधना के अनुकूल कोई भी उत्तम वस्तु की प्राप्ति हो तब उसके द्वारा ज्ञानादि गुण-पर्याय में अधिक गुरु भगवंत की भक्ति करनी चाहिए, जिससे उनमें रहे हुए गुणों की अनुमोदना हो एवं साधना में सहायक सामग्री द्वारा गुरु भगवंत भी अपने संयमादि की वृद्धि कर सकें । ऐसा होते हुए भी, प्रमाद या निर्विचारकता के कारण मिली हुई सुयोग्य वस्तु से गुरु की भक्ति करने के बदले उस चीज का उपयोग खुद के लिए किया हो, तो वह गुरु भगवंत की **द्रव्य विषयक आशातना** है ।

गुरु के कार्य में विघ्नरूप न बने अथवा किसी भी तरीके से गुरु की आशातना न हो, उसके लिए गुणवान साधक बिना कारण गुरु के एकदम नजदीक बैठता, उठता या चलता नहीं है। इसके बावजूद प्रमाद या अज्ञान आदि

---

(१८) गुरु रात्रि में 'कोई जग रहा है ?' ऐसा प्रश्न पूछें, तब जागते हुए भी जवाब नहीं देना ।
(१९) रात्रि के सिवाय अन्य समय में भी जवाब नहीं देना ।
(२०) गुरु महाराज बुलाए तो आसन पर बैठे बैठे या शयन पर सोते सोते ही जवाब देना ।
(२१) गुरु बुलाए तो 'क्या है ?' ऐसा कठोरता से बोलना ।
(२२) गुरु को असभ्य तरीके से बुलाना ।
(२३) 'आप भी आलसी हैं' ऐसा कहकर उनका कहा हुआ काम न करना ।
(२४) बहुत ऊंचे और कर्कश स्वर से वंदन करना ।
(२५) गुरु बातचीत करते हों या उपदेश देते हों तब, बीच में टांग अडाकर कहना कि 'यह ऐसा है, वैसा है' वगैरह ।
(२६) 'तुम को पाप नहीं लगता ?' वगैरह बोलना ।
(२७) गुरु वाक्य की प्रशंसा नहीं करना ।
(२८) गुरु धर्मकथा करते हों उस समय 'अब छोड़ो ये बातें ! भिक्षा का समय, सूत्र पोरिसी का समय या आहार का समय हो गया है,' वगैरह बोलना ।
(२९) गुरु बात करते हों तब बीच में बोलना, गुरु की बात तोड़ना ।
(३०) गुरु के समान आसन, सदृश आसन या ऊंचे आसन पर बैठना ।
(३१) खुद विशेष धर्मकथा कहना ।
(३२) गुरु के आसन को पैर लगाना अथवा भूल से लग जाए तो खमाना नहीं ।
(३३) गुरु की शय्या या आसन पर बैठना । - गुरुवंदन भाष्या गा. ३५-३६-३७

से नजदीक जाने रूप आशातना हुई हो, तो वह गुरु भगवंत की **क्षेत्र विषयक आशातना** है ।

गुणवान गुरु भगवंत जब बुलाए या कोई प्रश्न पूछें अथवा तो कोई कार्य का इशारा करें, तब शिष्य को विनयपूर्वक विलंब किए बिना प्रत्युत्तर देना चाहिए एवं बताया हुआ कार्य तुरंत ही करना चाहिए । प्रत्युत्तर देने में या कार्य करने में कभी विलंब हुआ हो तो वह गुरु भगवंत की **कालविषयक आशातना** है ।

गुणों के सागर गुरु भगवंत के प्रति अश्रद्धा या अनादर के परिणामपूर्वक मन-वचन एवं काया से किसी भी प्रकार का अनुचित व्यवहार हुआ हो, तो वह गुरु भगवंत के प्रति **भाव विषयक आशातना** है ।

इन पदों को बोलते समय शिष्य के हृदय में ऐसा भाव होना चाहिए,

> *"गुणवान गुरु भगवंत की मुझसे किसी भी प्रकार की आशातना नहीं होनी चाहिए.. फिर भी प्रमादादि किसी दोष से अगर कोई आशातना हुई हो तो उन भूलों का पुनरावर्तन न हो, इसलिए मैं गुरु भगवंत से क्षमा मांगता हूँ ।"*

इस प्रकार तैंतीस आशातनाओं में से जो जो आशातना हुई हो, उनको याद करके दुःखार्द्र हृदय से विनम्र भाव से गुरु भगवंत से क्षमा मांगनी चाहिए ।

तैंतीस आशातनारूप अतिचार बताने के बाद, अब अन्य अतिचार बतातें हुए कहते हैं-

जं किंचि मिच्छाए - (आगे बताये हुए) मिथ्यात्व (आदि) जिस किसी भाव द्वारा (मैंने जो कोई अतिचार किया हो तो उसका हे क्षमाश्रमण ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।)

मिथ्याभाव याने गलत भाव, गुरु ने जिस भाव से कहा हो उससे विपरीत समझना । हित के लिए कही गई गुरु की बात के संदर्भ में भी ऐसा सोचना कि, सभी ही तो ऐसी भूल करते हैं तो भी गुरु भगवंत मुझे ही डाँटते हैं, दूसरों को

कुछ नहीं कहते । उनको मेरे प्रति द्वेष भाव है एवं दूसरों के प्रति लगाव है । ऐसे उलटे विचार मिथ्याभावरूप होने से गुरु की आशातना है ।

हकीकत में सद्गुरु भगवंतों को कभी भी किसी के प्रति पक्षपात नहीं होता नाही किसी के प्रति द्वेष होता है। वे तो मात्र गुण के रागी होते हैं एवं दोष के द्वेषी । दोषवान व्यक्ति के प्रति उन्हें द्वेष नहीं होता, उनके प्रति उनको मात्र करुणा बुद्धि होती है । वे करुणा बुद्धि से ही उनको सुधारने का यत्न करते हैं । ऐसे प्रसंग पर चोयणा करते हुए उनको कभी कडवे शब्द बोलने पड़ते हैं, बाहर से आवेश भी बताना पड़ता है; परन्तु अन्दर से तो वे शांत, प्रशांत एवं निष्पक्ष ही होते हैं । ऐसे करुणासागर गुरु भगवंत के विषय में कोई भी अवास्तविक विचार करना गुरु की मिथ्याभावरूप आशातना है ।

यह पद बोलते हुए दिन के दौरान जाने-अनजाने खुद से जो भी आशातना हुई हो, उसे याद करके सोचना चाहिए,

> *"मैं कैसा अधम हूँ, कैसी विपरीत मतिवाला हूँ कि गुरु की कही हुई हितकारी और सरल बात का भी स्वीकार नहीं कर सकता । इस अपराध के लिए क्षमा मांगता हूँ एवं पुनः ऐसा न हो वैसा संकल्प करता हूँ ।"*

मण दुक्कडाए, वय दुक्कडाए, काय दुक्कडाए - मन संबंधी दुष्कृत्य, वचन संबंधी दुष्कृत्य एवं काय संबंधी दुष्कृत्य (=आशातना द्वारा मुझे जो कोई अतिचार लगा हो, उनका हे क्षमाश्रमण ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।)

"गुरु भगवंत तो पक्षपाती हैं, उनकी जो सेवा करता है वह ही उनको अच्छा लगता है । उस शिष्य को वे पढ़ाते हैं मुझे नहीं पढ़ाते, दूसरों को समय देते हैं, मेरे लिए तो उनके पास समय ही नहीं है" - इस प्रकार कषाय के अधीन होकर गुरु के लिए अनुचित विचार करना **मन संबंधी दुष्कृत्य** है ।

गुरु भगवंत के साथ विनयपूर्वक बातचीत नहीं करना, पूछे हुए प्रश्नों का संतोष कारक उत्तर न देना, उनके सामने ऊँची आवाज में बोलना इत्यादि **वाणी संबंधी दुष्कृत्य** है ।

अपने मलिन वस्त्र या अंग से गुरु के शरीर का स्पर्श करते हुए चलना, बैठना, गुरु के आसन को पैर लगाना, आवेश में आकर गुरु के साथ खटपट करना, वंदनादि क्रिया के बिना गुरु के शरीर को स्नेहवश स्पर्श करना या उनको स्पर्श करके बैठना-उठना वगैरह सभी क्रियाएँ **काया संबंधी दुष्कृत्य** हैं।

यह पद बोलते समये शिष्य सोचता है,

> *"जिस मन, वचन एवं काया से गुरु भगवंत की भक्ति करनी चाहिए, उन्ही से मैंने उनकी आशातना की है । वास्तव में मैंने भयंकर भूल की है । पश्चात्तापपूर्ण हृदय से मैं इस भूल की क्षमा मांगता हूँ एवं पुनः ऐसी भूल न हो, वैसे संकल्प के साथ निंदा, गर्हा एवं उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।"*

कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए - क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से (जो कोई आशातना की हो, उनका हे क्षमाश्रमण ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।)

क्रोध के अधीन होकर गुरु भगवंत के साथ अनुचित व्यवहार करना, उनके हितकारी वचनों को सुनकर आवेश में आ जाना, अकड़कर ऊँचे स्वर में बोलना, मारामारी तक आ जाना वगैरह प्रवृत्ति **क्रोध** से हुई गुरु की आशातना है ।

अभिमानपूर्वक, अपने को गुरु से अधिक साबित करने की इच्छा, गुरु से मान की अपेक्षा, गुरु द्वारा मान न मिलने पर गुरु के लिए मन चाहा सोचना या बोलना, गोष्टामाहिल की तरह मान के अधीन होकर गुरु की बात का स्वीकार नहीं करना, **मान** से हुई गुरु की आशातना है ।

गुरु के साथ छलकपट भरा व्यवहार करना, हृदय में न हो वैसा भाव गुरु के समक्ष प्रकट करना, अपनी इच्छा पूरी करने के लिए विनयरत्न साधु की तरह बाहर से विनयी होने का दिखावा करके, अंदर से गुरु के प्रति वैर भाव रखना,

उनको परेशान करने का विचार करना, ऐसी कोई भी प्रवृत्ति **माया से** हुई गुरु की आशातना है ।

पढ़ने आदि के लोभ से गुरु जो कार्य कहें उसे न करना अथवा जैसे तैसे कर देना, गुरु मुझे पढ़ाए या अच्छा आहार, वस्त्र आदि दें ऐसे लोभ से गुरु की सेवा करना, गुरु के दिए हुए उपकरण वगैरह किसी को न देने पड़ें, इसलिए छिपाकर रखना, ऐसी कोई भी प्रवृत्ति **लोभ से** हुई गुरु की आशातना है ।

इन पदों का उच्चारण करते हुए दिवस के दौरान कषाय के अधीन होकर गुरु संबंधी सूक्ष्म या बादर जो कोई अशुभ वाणी, व्यवहार या विचार हुआ हो तो उनको स्मृति में लाना चाहिए । 'मैंने ये खूब गलत किया है ।' ऐसा सोचकर तीव्र पश्चात्ताप के साथ उसके लिए क्षमा मांगनी चाहिए ।

सव्वकालिआए - सर्व काल संबंधी (भूतकाल में, भविष्य काल में एवं वर्तमान काल में हुई आशातना में कोई भी अतिचार लगा हो तो उसका हे क्षमाश्रमण ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।)

इस भव में या पूर्व भवों में गुरु के प्रति अश्रद्धा की हो, अविनय किया हो या मन-वचन-काया से कोई आशातना की हो, वह **भूतकाल संबंधी** गुरु की आशातना है । गुरु की तरफ से असंतोष होते हुए, 'अवसर मिलने पर गुरु को सुना दूंगा, उनका कुछ अनिष्ट करूंगा'- ऐसा सोचना या बोलना **भविष्य** संबंधी गुरु की आशातना है । इसके अलावा, वर्तमान में गुरु की भक्ति, विनय, वैयावच्च न करना, गुरु के प्रति कोई विपरीत भाव रखना **वर्तमान** संबंधी गुरु की आशातना है ।

जिज्ञासा : वर्तमान एवं भविष्य संबंधी गुरु की आशातना का तो ख्याल आ सकता है, परन्तु इस भव में अज्ञानतावश की गई गुरु की आशातना या पूर्व भव स्वरूप भूतकाल में हुई गुरु की आशातना का ख्याल किस तरीके से आए?

तृप्ति : पुण्य के उदय से वर्तमान में गुणवान गुरु भगवंत का सान्निध्य मिलने पर भी गुरु चरणों में जीवन समर्पित करने का भाव एवं प्रयत्न करने पर भी,

अगर उनके प्रति श्रद्धा प्रगट न हो, सच्चा समर्पण भाव न उठता हो, आदर या बहुमान जागृत न होता हो, उनकी आज्ञा में विकल्प उठते हों या भक्ति करने का उल्लास न होता हो तो समझना चाहिए कि, भूतकाल में अवश्य गुरु संबंधी कोई आशातना हुई होगी ।

उदाहरण स्वरूप, भूतकाल में पुण्य योग से सद्गुरु मिले भी होंगे, परन्तु मानादि दोषों के कारण सद्गुरु की आज्ञा नहीं मानी होगी, उनके प्रति आदर या बहुमान नहीं रखा होगा, उनके प्रति विनय प्रदर्शित करने में खामी रही होंगी आज्ञा का पालन नहीं किया होगा, शायद कभी किया भी होगा तो बहुमानपूर्वक नहीं किया होगा, संयम जीवन स्वीकार करने के बाद भावपूर्वक गुरु चरणों में जीवन समर्पित नहीं किया होगा या गुरु वचन में शंका-कुशंकाएं की होंगी, इन से ही ऐसे कर्म बांधे होंगे कि गौतम जैसे उत्तम गुरु तो मिले नहीं लेकिन इस काल के अनुरूप अच्छे गुरु मिले हैं तो भी उनके प्रति सद्भाव पैदा नहीं होता, आज्ञापालन का उल्लास जागृत नहीं होता या उनकी हितकारी बातों में श्रद्धा नहीं होती ।

इस तरीके से अब तक के अविनय आदि से अनुमान करके, भूतकाल में हुई गुरु आशातनाओं का अंदाज मिल सकता है एवं उसके आधार से भूतकाल की आशातनाओं के प्रति जुगुप्सा हो सकती है ।

इस पद का उच्चारण करते समय तीनों कालों संबंधी गुरु भगवंत की जो आशातनाएँ हुई हों, उनको स्मरण में लाकर सोचना चाहिए,

> *"भवसागर से तारनेवाले कल्याणकारी गुरु भगवंत की जो आशातना हुई है वह अत्यंत लज्जाहीन कृत्य है । ऐसा करके मैंने अपने ही भव की परंपरा बढ़ाई है । अपने आप को हित के मार्ग से दूर ढकेल दिया है । हे भगवंत ! ऐसे दोषों की मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके द्वारा गाढ बने हुए कुसंस्कारों को उखाडने का प्रयत्न करता हूँ । यदि ये कुसंस्कार मूल से शिथिल होंगे तो ही भविष्य में ऐसे दोषों की संभावना*

नहीं रहेगी एवं आपके जैसे सद्गुरु के सहारे संसार सागर तैर सकूँगा ।

सव्वमिच्छोवयाराए - सर्व मिथ्या उपचार से (जो आशातना हुई हो उसका हे क्षमाश्रमण ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।)

उपचार का अर्थ भक्ति होता है एवं मिथ्या उपचार अर्थात् गलत तरीके से की हुई भक्ति अथवा विपरीत आशय से की हुई भक्ति ।

भक्ति करनेवाले शिष्य को 'किस तरीके से भक्ति करूं तो गुरु भगवंत को अनुकूल होगा, उनके मन को संतोष होगा,' ऐसा विचार कर भक्ति करनी चाहिए । उसके बदले गुरु की प्रतिकूलता या असंतोष का कारण बने, वैसी भक्ति करना, गलत तरीके से की हुई भक्ति है । जैसे कि, वायु की, कफ की प्रकृतिवाले गुरु को ठंडा आहार लाकर देना, उनकी शुश्रूषा-सेवा भी इस तरीके से करना कि, उनका दर्द या उनकी पीड़ा हलकी होने के बजाय बढ़ जाए, वस्त्र-पात्र या स्थान भी ऐसा देना जो उनको अनुकूल न हो, इस प्रकार गुरु भगवंत की अनुकूलता या प्रतिकूलता का विचार किए बिना अपनी इच्छा को मुख्यता देना मिथ्या उपचार है ।

गलत तरीके से की हुई भक्ति जैसे मिथ्या उपचार है, वैसे गलत आशय से की हुई भक्ति भी मिथ्या भक्ति है, जैसे कि, गुरु की भक्ति आदि सब क्रियाएँ कर्म नाश का कारण बनें उस प्रकार से न करना । शिष्य यदि संवेगादि भाव से भक्ति करे, तो जैसे जैसे वह गुरु की भक्ति, विनयादि करता जाए वैसे वैसे वह आत्मभाव के अभिमुख बनता जाता है; परन्तु अगर संवेग के बजाय मान-कीर्ति की कामना से, गुरु को अच्छा लगने के लिए अथवा 'भक्ति करूँगा तो प्रसन्न हुए गुरु मेरी अच्छी तरह देखभाल करेंगे, अमुक अनुकूलताएं देंगे' ऐसे कोई भी इहलौकिक या पारलौकिक भौतिक आशय से प्रेरित होकर अगर शिष्य गुरु की भक्ति करे तो वह भक्ति गुरु के चित्त को संतोष देने में सफल नहीं होती । ऐसी अनुचित विवेकहीन भक्ति कर्मनाश के बदले कर्म बंध का कारण बनती है । शिष्य के आंतरिक आशयों से अनजान गुरु यदि शिष्य के बाह्य

उपचार से संतोष भी पाएं, तो भी भौतिक आशयवाली भक्ति मिथ्या उपचार ही बनती है । यह सब मिथ्या उपचाररूप भक्ति गुरु की आशातना है ।

यह पद बोलते हुए ऐसी कोई गलत भक्ति हुई हो तो उसको स्मृति में लाकर, उसकी निंदा, गर्हा करके भविष्य में ऐसी भूल न हो उसके लिए सावधान बनता है ।

सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए - (अष्ट प्रवचन माता एवं सर्व धर्म के अतिक्रमणरूप आशातना से (मैने जो कोई अतिचार का सेवन किया हो, उसका हे क्षमाश्रमण ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।)

आत्म कल्याण कारक सर्व प्रकार के धर्मों का उपदेश गुरु भगवंत देते हैं। जैसे कि, क्षमादि दस यतिधर्म का पालन करना, समता के भाव में रहना, पाँच महाव्रतों का सम्यग् प्रकार से सेवन करना, समिति गुप्ति का पालन करना वगैरह... गुरु भगवंत के द्वारा उपदिष्ट धर्म का पालन करना मतलब के वचनों का पालन करना । गुरु के वचन का पालन ही गुरु की उत्तम भक्ति है। इसलिए समिति गुप्ति वगैरह का पालन जब न हो तब उनके वचनों का अनादर होता है एवं गुरु वचन का उल्लंघन गुरु की आशातना ही है । यह पद बोलते हुए दिन के दौरान गुरु द्वारा उपदिष्ट किसी भी प्रकार के धर्म का उल्लंघन हुआ हो या, उनका यथायोग्य पालन न हुआ हो तो उन सब आशातनाओं को याद करके उनकी निंदा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण करना है ।

जो मे अइआरो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि - हे क्षमाश्रमण ! (उपरोक्त आशातना के कारण) मुझ से जो कोई भी अतिचार हुआ हो उसकी मैं प्रतिक्रमण करता हूँ निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ ।

अंत में शिष्य कहता है, 'क्षमा के सागर हे गुरुदेव ! दिवस के दरम्यान जो जो आशातनाएँ सम्भावित हैं, वे उपर बताई गई हैं । उनमें से जो जो आशातनाएँ मुझ से हुई हैं, आप को परतंत्र रहने की शपथ लेने के बावजूद स्वच्छंदी बनने के कारण

मुझ से जो जो दोष हो जाए हों, सामायिक का व्रत ग्रहण करने के बाद भी विषम भाव में आकर आप के प्रति विचित्र व्यवहार हुआ हो, तो हे भगवंत ! इन दोषों से वापिस आने रूप उनका प्रतिक्रमण करता हूँ । आत्मसाक्षी से उनकी निंदा करता हूँ, गुरु के समक्ष उनकी गर्हा करता हूँ एवं दोष रूप अपनी आत्मा को **वोसिराता** हूँ अर्थात् दुष्ट पर्यायों का त्याग करता हूँ ।'

प्रतिक्रमण : प्रतिक्रमण करना अर्थात् वापिस आना । गुरु संबंधी आशातना से इस तरीके से पीछे आना कि पुनः वैसी आशातना की संभावना न रहे ।

जिस प्रकार धार्मिक संस्कारों से संस्कारित जैन कुल में जन्मे बालकों के मन में मांस के प्रति ऐसी घृणा होती है कि, निमित्त मिलने पर भी उनको मांस खाने की इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार गुरु आशातनाओं के फल आदि का विचार करके आत्मा को इस तरह शिक्षित करना चाहिए कि पुनः कभी भी गुरु की आशातना का परिणाम अंतर में प्रकट न हो । यह मुख्यरूप[7] से (उत्सर्ग मार्ग) प्रतिक्रमण है एवं किसी संयोगवश गुरु की आशातना हो भी जाए तो प्रतिक्रमणादि क्रिया करके गुरु के प्रति अहोभाव इस प्रकार से प्रकट करना चाहिए कि पुनः गुरु की आशातना का पाप हो ही नहीं । वह गौणरूप से (अपवाद से) प्रतिक्रमण है।

निंदा : गुरु के प्रति हुई अपनी भूलों का मनोमन तिरस्कार करना निन्दा है। गुरु के प्रति बहुमान मोक्ष मार्ग में गति देनेवाला है एवं गुरु की आशातना मोक्षमार्गरुपी रत्नत्रयी का विनाश करती है । ऐसे दृढ़ भाव जिनके हृदय में स्थिर हुए हों, वैसी भवभीरु आत्माएँ जानबूझकर गुरु की आशातना हर्गिज़ नहीं करती । सावधानी रखने के बावजूद भी अज्ञानवश या विषय-कषाय के अधीन होकर कभी गुरु की आशातना होने की संभावना रहती है । आशातना होने पर पश्चात्ताप सहित आत्मसाक्षी से ऐसा सोचना कि, *"गुरु की आशातना करके मैंने महापाप किया है, मैंने अपने आप अपनी आत्मा का अहित किया है । मैंने ही अपनी भव परंपरा बढ़ाई है । वास्तव में मैं पापी हूँ, अधम हूँ, दुष्ट हूँ ।'* ऐसा विचार ही आत्मनिंदा है । इस प्रकार आत्म निंदा करने से आशातनाजन्य पाप

7. मूलपदे पडिक्कमणुं भाख्युं, पापतणुं अण करवुं रे...

महामहोपाध्याय यशोविजयजी कृत १५० गाथा का स्तवन ढाल-२/१८

के संस्कारों का अनुमोदन होने में रुकावट आ जाती है, एवं निंदा द्वारा उन कुसंस्कारों का उन्मूलन भी होता है ।

जिज्ञासा : कषाय के अधीन होकर गुरु की आशातना करने के बाद इस तरीके से कोई आत्म-निंदा कर सकता है ?

तृप्ति : जीव भावुक द्रव्य है । अतः उसको जैसा निमित्त मिलता है वह वैसे भाववाला बन जाता है । कभी भावविभोर हो जाता है तो कभी निमित्त मिलने पर कषाय के अधीन होकर गुरु की आशातना कर बैठता है । फिर भी अगर चित्त प्रशांत होने के बाद वह भूल का विचार करे तो उसे अपनी भूल समझ में आती है एवं उस भूल की वह आत्मसाक्षी से निंदा भी करता है । इसके अलावा कुछ कषाय अल्पजीवी होते हैं, अतः वे जल्दी शांत हो जाते हैं और बाद में जीव अपनी भूल समझ जाता है । इसके उपरांत सोचें तो जीव खुद अच्छा होने के बावजूद कभी-कभार कर्म का जोर बढ़ जाने से उससे भूल हो जाती है, परन्तु कषायों का जोर कम होने से वह निंदा-गर्हा पश्चाताप-प्रायश्चित्त करता है ।

गर्हा : गुरु की साक्षी में अपनी दुष्ट आत्मा की निंदा करना गर्हा है । कषाय के अधीन हुआ जीव अयोग्य व्यवहार करके उसको सही मानता है और उस कार्य की पुनः पुनः अनुमोदना करता है, परन्तु जब उसका चित्त शांत-प्रशांत बनता है (कषाय शांत हो जाते हैं), तब उसे गुरु के प्रति हुए अपने अयोग्य व्यवहार का खयाल आता है । खयाल आते ही वह गुण के सागर गुरु भगवंत के पास बैठकर अपनी भूलों का एकरार करता है । 'मुझ से यह अत्यंत अयोग्य व्यवहार हुआ है, आप मुझे क्षमा करें ।' ऐसा कहकर वह गुरु के पास गर्हा करता है याने गुरु के समक्ष अपनी निंदा करता है । इस तरह गर्हा करने से पाप के संस्कार धीरे धीरे मंद मंदतर होकर नष्ट हो जाते हैं ।

जिज्ञासा : निंदा एवं गर्हा में क्या फर्क है ?

तृप्ति : आत्मसाक्षी से खुद के दुष्कृत्यों के प्रति तिरस्कार भाव पैदा करना निंदा है एवं जिन पापों की निंदा की हो, उन पापों के प्रति तिरस्कार अधिक ज्वलंत करके पाप का विशेष नाश करने के लिए गुणवान गुरु भगवंत के पास निष्कपट भाव से भूल का स्वीकार करना गर्हा है ।

जिज्ञासा : क्या सिर्फ निन्दा करना काफी नहीं, गर्हा करने की क्या आवश्यकता है ?

तृप्ति : निंदा करने से पाप के अनुमोदन का परिणाम नष्ट हो जाता है, जब कि गुण संपन्न गुरु भगवंत के पास गर्हा करने से अपने से हुए दोषपूर्ण व्यवहार के प्रति तिरस्कार तीव्र बनता है एवं गुरु भगवंतों के गुणों के प्रति हृदय में बहुमान होता है । गुरु भगवंत भी शिष्य की बात सुनकर, उसके उपर घृणा या तिरस्कार न करके उसको इस पाप से मुक्त होने का मार्ग बताते हैं अर्थात् गर्हा करने से शिष्य सरलता से सन्मार्ग पर चल सकता है एवं मान कषाय का नाश करके नम्रतादि गुणों को प्रकट कर सकता है । इसलिए वह भी आवश्यक है।

अप्पाणं वोसिरामि ।- पाप करने वाली आत्मा की वह पाप युक्त अवस्था का मैं त्याग करता हूँ ।

निंदा एवं गर्हा करने के बाद, गुरु की आशातनारूप पाप की अनुमोदना का लेशमात्र भाव भी रह न जाए, इसलिए वैसा पाप करनेवाली अपनी आत्मा के पर्यायों को मैं वोसिराता[8] हूँ अर्थात् कि वैसे पर्यायों का मैं त्याग करता हूँ ।

आत्मा नित्य है एवं पर्याय प्रतिपल नष्ट होनेवाले हैं । प्रतिपल नष्ट होनेवाले पर्याय वैसे तो नष्ट हो ही गए हैं, परन्तु नष्ट हुए वे पर्याय आत्मा के उपर पापों के संस्कार छोड़ जाते हैं । वे संस्कार अभी भी नष्ट नहीं हुए । ये संस्कार निमित्त मिलने पर पुनः जागृत न हों एवं पुनः गुरु आशातना जैसे भयंकर पाप के मार्ग पर न चला जाए इसलिए साधक इन पदों द्वारा उन दुष्ट संस्कारों को नष्ट करने का यत्न करता है ।

इस प्रकार इस सूत्र द्वारा गुरु भगवंत के साथ वार्तालाप करते हुए शिष्य ने गुरु की सुखशाता पृच्छा वगैरह करके दिन के दौरान गुरु की जो जो आशातना हुई हो उसका स्मरण किया एवं ऐसी आशातना पुनः पुनः न हो उसके लिए निंदा, गर्हा एवं वोसिराने कि क्रिया की ।

---

8. 'वोसिरामि' शब्द की विशेष समझ के लिए सूत्र-संवेदना-१ में से 'अन्नत्थ' या 'करेमि भंते' सूत्र देखना ।

सात लाख

सूत्र परिचय :

इस सूत्र में चौरासी लाख जीवयोनियों में उत्पन्न हुए जीवों की क्षमा मांगी जाती है, इसलिए इसे **'जीव क्षमापना सूत्र'** भी कहते हैं ।

जीवों के उत्पत्तिस्थानों को 'जीवयोनि' कहते हैं । इस जगत् में ऐसी योनियाँ असंख्य हैं, तो भी जिनके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श समान होते हैं, उन तमाम योनियों का एक प्रकार में समावेश होता है । उस तरीके से गिनने से योनियों की संख्या ८४ लाख होती हैं, वैसा 'समवायांग' वगैरह आगमों में एवं 'प्रवचनसारोद्धार' आदि ग्रंथ में कहा गया है ।

इस सूत्र में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की ८४ लाख प्रकार की योनियाँ गिनाई हैं । इन ८४ लाख योनिओं में उत्पन्न हुए सर्व जीवों को सुख प्रिय होता है, ऐसा होते हुए भी हम अपने स्वार्थ या सुख के लिए उन जीवों का वध करते हैं, दुःख पहुँचाते हैं । इस प्रकार किसी जीव का वध करने से, या उसको दुःख पहुँचाने से उन जीवों के साथ वैर का अनुबंध होता है । ऐसे वैर के अनुबंध को तोड़ने, सब जीवों के साथ मैत्री भाव को टिकाने एवं किसी को दुःख देकर बांधे हुए कर्म एवं उसके कुसंस्कारों से मुक्त होने के लिए ही यह

सूत्र है । साधक ने यदि ८४ लाख योनियों में उत्पन्न हुए अनंत जीवों में से किसी का हनन किया हो, दूसरों के द्वारा किसी का हनन करवाया हो या उनको हनन करनेवाले का अनुमोदन किया हो, तो इस सूत्र द्वारा उन सब निंदनीय कृत्यों का 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया जाता है ।

यह सूत्र बहुत छोटा एवं सरल है, परन्तु शास्त्रकारों ने इस अद्भुत रचना द्वारा हम को अनेक तरह के दुःखों से बचा लिया है । ऐसे सूत्र द्वारा यदि दुनिया के एक एक जीव को दिए परिताप का 'मिच्छा मि दुक्कडं' न दिया जाय तो कैसे दुःख सहन करने पड़ेंगे उनकी कल्पना करने पर भी हृदय कांप उठेगा; क्योंकि दुनिया का दस्तूर है कि, जीव अन्य को जैसी पीड़ा देता है, उसे भविष्य में उससे अनेकगुनी पीड़ा भुगतनी पड़ती है ।

अरे ! कर्म सत्ता का तो ऐसा नियम है कि, एक बार किसी जीव को जितना दुःख दिया हो, उससे कम से कम १० गुना दुःख भुगतना पड़ता है एवं यदि उसमें भाव की तीव्रता हो तो १००० गुणा भी दुःख भुगतना पड़ता है । महामहोपाध्याय भगवंत प्रथम पापस्थानक की सज्झाय में कहते हैं,

'होए विपाके दस गणुं रे, एक वार कीयुं कर्म;
शत-सहस कोडी गमे रे, तीव्र भावना मर्म...३

उपकार तो भगवान का है, कि ऐसा दुःखमुक्ति का मार्ग बताया एवं उपकार इस सूत्र के रचनाकार कोई अनजाने महात्मा का, कि जिन्होंने प्रभु के मार्ग को ऐसे सरल शब्दों में हम तक पहुँचाया ।

गुजराती भाषा में रचे हुए इस सूत्र के रचनाकार कौन हैं ? इसे कब से बोलना शुरू किया गया ? इसके संबंध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। स्थानकवासी संप्रदाय में भी यह सूत्र बोला जाता है, इसलिए अनुमान से यह सूत्र ५०० वर्ष से अधिक पुराना होना चाहिए ।

मूल सूत्र :

सात लाख पृथ्वीकाय,
सात लाख अप्‌काय,
सात लाख तेउकाय,
सात लाख वाउकाय,
दश लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय,
चौद लाख साधारण वनस्पतिकाय,
बे लाख बेइन्द्रिय,
बे लाख तेइन्द्रिय,
बे लाख चउरिन्द्रिय,
चार लाख देवता,
चार लाख नारकी,
चार लाख तिर्यंच-पंचेन्द्रिय,
चौद लाख मनुष्य,
एवंकारे चोराशी लाख जीवायोनिमांहे
माहरे जीवे जे कोई जीव
हण्यो होय, हणाव्यो होय, हणतां प्रत्ये अनुमोद्यो होय,
ते सविहु मन-वचन-कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं।

विशेषार्थ :

सात लाख पृथ्वीकाय : पृथ्वीकाय जीवों की योनि सात लाख है ।

इस जगत् में रहे हुए सर्व जीवों के सामान्य से दो प्रकार हैं : त्रस एवं स्थावर। उसमें अपनी इच्छानुसार हलन-चलन करनेवाले जीवों को त्रस जीव कहते हैं एवं अपनी इच्छानुसार हलन-चलन न कर सकनेवाले जीव स्थावर जीव

कहलाते हैं । स्थावर जीवों को एक ही इन्द्रिय होती हैं । उनके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति ऐसे पाँच प्रकार हैं । उनमें जिनका शरीर पृथ्वीरूप[1] है, उन्हें पृथ्वीकाय कहते हैं । इन पृथ्वीकाय जीवों के उत्पन्न होने के स्थान सात लाख प्रकार के हैं ।

प्रत्येक वनस्पतिकाय के अलावा पृथ्वीकायादि पाँचों स्थावर[2] जीव सूक्ष्म एवं बादर दो प्रकार के होते हैं । उनमें सूक्ष्म[3] पृथ्वी आदि पाँचों प्रकार के जीव चौदह राज-लोक में व्याप्त हैं एवं उनकी हिंसा वचन, काया से नहीं हो सकती, तो भी उनके प्रति किया हुआ अशुभ मनोयोग जीव को पाप कर्मों का बंध करवाता है।

बादर पृथ्वीकाय जीव लोक के नियत भाग में ही रहते हैं । लाल, काली, पीली, सफेद वगैरह मिट्टी, पत्थर वगैरह की अनेक जातियाँ, विविध प्रकार के नमक वगैरह, हरेक प्रकार के क्षार, सोना, चांदी आदि धातुएँ, वज्र, मणि आदि रत्न, अभ्रक, पारा, मणशील, हिंगलोक वगैरह पृथ्वीकाय के जीव हैं, पर सामान्य तौर से जैसे माना जाते हैं वैसे अजीव=जड पदार्थ नहीं हैं।

---

1. पृथ्वीकाय आदि जीवों के विशेष स्वरूप को जानने की इच्छावाले जिज्ञासु शांतिचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का बनाया हुआ जीवविचार ग्रंथ खास पढ़ें । तदुपरांत पृथ्वी आदि पांचों स्थावर जीवरूप हैं, उसका सबूत 'आचारांग' 'जीवाभिगम' वगैरह आगमों में तथा 'पंचवस्तु' ग्रंथों में दिया गया है। जो इन सब ग्रंथों के पढने का अधिकारी नहीं हैं वे गुजराती भाषा में लिखी हुइ धीरजलाल टोकरशी की 'जीवविचार प्रकाशिका' नाम की पुस्तक द्वारा उसका ज्ञान पायें । विशेष जिज्ञासुओं को तो इन सब ग्रंथों का पठन-पाठन-श्रवण अवश्य करना चाहिए ।
2. पृथ्वीकाय आदि पांचों स्थावर जीव एकेन्द्रिय होते हैं । इन्द्रियाँ पांच हैं - त्वचा, जीभ, नाक, आंख एवं कान । उनमें से मात्र त्वचारूप एक ही इन्द्रिय जिसे होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं । चमड़ी एवं जीभ इस तरह दो इन्द्रिय हों उन्हें बेइन्द्रिय कहते हैं । चमडी, जीभ एवं नाक इस प्रकार तीन इन्द्रियोंवाले तेइन्द्रिय कहलाते हैं । चमडी, जीभ, नाक एवं आँख इस प्रकार चार इन्द्रियाँ हों उन्हें चउरिन्द्रिय कहते हैं एवं जिन्हें चमडी, जीभ, नाक, आँख एवं कान : इस प्रकार पांच इन्द्रियाँ हों उन्हे पंचेन्द्रिय कहते हैं ।
3. असंख्य एवं अनंत जीव एकत्रित हों तो भी चर्मचक्षु से जिन्हें देख न सकें ऐसे जीवों को तथा जिन जीवों को भेदा न जा सके, छेदा न जा सके, पानी से भीगो न सकें, अपने व्यवहार में आऐं नहीं, उन्हें सूक्ष्म जीव कहते हैं । सूक्ष्म पृथ्वी आदि पांचों ही सूक्ष्म स्थावर जीव चौदह राजलोक में ठूस ठूस कर भरे हैं ।

   असंख्य या अनेक इकट्ठे होने के बाद चर्मचक्षु से देख सकते हैं उन्हें बादर पृथ्वीकायादि कहते हैं एवं वे लोक के नियत भाग में रहते हैं ।

सूई के अग्र भाग पर रही हुई शस्त्र से हनन नही हुई मिट्टी आदि, बादर पृथ्वीकाय के असंख्य जीवों का पीण्ड होता है । शास्त्र में कहा है कि, हरे आँवले के बराबर नमक आदि पृथ्वीकाय[4] में जितने जीव रहते हैं, उन प्रत्येक जीव का शरीर यदि कबूतर के बराबर हो जाय तो वे जीव एक लाख योजन (लगभग १३,००,००० कि.मी.) जितने विशाल जम्बूद्वीप में भी न समा पाएंगे । धन की लालसा से, अनुकूलता के राग से, प्रतिकूलता के द्वेष से एवं मोहाधीनता के कारण आदमी खेती करके, मकान बनाकर, खुदाई करके जमीन में से धातु रत्न आदि निकालकर वगैरह अनेक तरह से इन पृथ्वीकाय की हिंसा करता हैं । यह पद बोलते हुए अनेक प्रकार से की गई पृथ्वीकाय जीवों की हिंसा को स्मरण में लाकर उन जीवों से क्षमा मांगनी चाहिए ।

सात लाख अप्काय : अप्काय जीवों की योनि सात लाख है ।

जिनका शरीर पानीरूप है, वैसे जीवों को अप्काय कहते हैं एवं शास्त्र में उनके उत्पन्न होने के स्थान सात लाख प्रकार के बताए गये हैं ।

अप्काय जीवों के भी दो प्रकार हैं : सूक्ष्म एवं बादर । उनमें बादर अप्काय जीव लोक के अमुक भाग में ही रहते हैं । ओस, बरफ, कुहासा, करा, धनोदधि, वनस्पति के उपर फूटकर निकलता पानी, बरसात, कुँआ-तालाब आदि का पानी, समुद्र वगैरह स्थानों का खारा, खट्टा, मीठा आदि पानी इत्यादि अप्काय के अनेक प्रकार हैं ।

पानी की एक बूंद में[5] असंख्य जीव होते हैं। वे हर एक जीव यदि सरसों के दाने जैसे बडे शरीरवाले हो जाएँ, तो जम्बूद्वीप में नहीं समा सकते । रसोई, स्नान Swimming, Water Park, साफ सफाई आदि अनेक क्रियाओं द्वारा इन जीवों की विराधना अर्थात् हिंसा होती है । यह पद बोलते हुए विविध प्रकार के पानी के जीवों की हिंसा को याद करके उन जीवों से माफी मांगनी चाहिए।

4. अद्दामलयापमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा ।
ते पारेवयमित्ता, जंबूदीवे न मायंति ।।९४।। - संबोधसत्तरि

5. एगंमि उदगबिंदुमि, जे जीवा जिणवरेहिं पन्नता
ते जइ सरिसवमित्ता, जंबूदीवे न मायंति ।।९५।। - संबोधसत्तरि

सात लाख तेउकाय : तेउकाय जीवों की योनि सात लाख है ।

जिनका शरीर अग्निरूप है वैसे जीवों को तेउकाय कहते हैं । शास्त्र में उनके उत्पत्ति स्थानों के सात लाख प्रकार बताए गये है । तेउकाय जीव भी उपर कहे अनुसार दो प्रकार के होते हैं । उनमें बादर तेउकाय जीव अड्ढाई द्वीप की पाँच कर्मभूमि में ही जिनेश्वर भगवान के काल में ही होते हैं । अंगारा, ज्वाला, भट्ठीं, बिजली, घर्षण से प्रकट होने वाली अग्नि, इलेक्ट्रीसिटी वगैरह तेउकाय के अनेक प्रकार हैं ।

वर्तमान में अनेक तरीके से जो इलेक्ट्रिसिटी का उपयोग होता है, पेट्रोल या अन्य किसी ईंधन द्वारा जो अग्नि पैदा होती है, वह अग्निकाय का ही शरीर है । उसका जो अनियंत्रित उपयोग होता है उससे अग्निकाय जीवों की बेसुमार हिंसा होती है, क्योंकि अग्नि[6] के एक तिनके में रहनेवाले जीव यदि पोश्ते के दाने (Poppy Seeds) जैसे बडे हो जाऐं तो जम्बूद्वीप में नहीं समा पाएंगे । इस पद को बोलते समय उन जीवों को दी हुई पीडा को याद करके उन जीवों के साथ क्षमापना करनी चाहिए।

सात लाख वाउकाय : वायुकाय जीवों की योनि सात लाख है ।

जिनका शरीर वायुरूप है, उन जीवों को वाउकाय कहते हैं । उनके भी दो प्रकार हैं : सूक्ष्म एवं बादर । उसमें बादर वाउकाय जीव चौदह राजलोक में फैली हुई हर खोखली जगह में होते हैं । उसके भी शुद्ध वायु, बहता वायु, मंडलीक वायु, चक्रवात वायु वगैरह अनेक प्रकार हैं। अजयणा पूर्वक हलन-चलन करते हुए, झूलते हुए, पंखे वगैरह का उपयोग करते हुए असंख्य वायुकाय जीवों का उपघात होता है । शास्त्र में कहा है कि, नीम के पत्ते के बराबर जगह में रहे हुए वायुकाय[7] के जीव अगर बालों में उत्पन्न होनेवाली लीख के शरीर

6- बरंटतंदुलमित्ता, तेउकाए हवंति जे जीवा ।
ते जइ खसखसमित्ता, जंबूदीवे न मायंति ।।९६।।

- संबोधसत्तरि

7- जे लिंबपत्तमित्ता, वाऊकाए हवंति जे जीवा ।
ते मत्थयलिखमित्ता, जंबूदीवे न मायंति ।।९७।।

- संबोधसत्तरि

के आकार के हो जाए तो जंबूद्वीप में नहीं समा पाएंगे । यह पद बोलते हुए इस तरीके से अनेक प्रकार से की हुई वायुकाय की हिंसा स्मरण में लाकर उन जीवों के साथ क्षमापना करनी चाहिए ।

दश लाख प्रत्येक वनस्पति काय : प्रत्येक वनस्पतिकाय जीवों की योनि दस लाख है ।

वनस्पति काय जीवों के दो प्रकार हैं : सूक्ष्म एवं बादर । उसमें बादर वनस्पतिकाय के दो प्रकार हैं : प्रत्येक एवं साधारण । एक शरीर में एक जीव हो, ऐसी वनस्पति के जीवों को प्रत्येक वनस्पतिकाय कहते हैं एवं एक शरीर में अनंत जीव हों, वैसी वनस्पति के जीवों को साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं । किसी एक वृक्ष के फल, फूल, छिलका, काष्ठ, मूल, पत्ते एवं बीज में स्वतंत्र रूप से रहनेवाले प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव होते हैं एवं संपूर्ण वृक्ष का भी एक जीव होता है । इनके छेदन, भेदन वगैरह से उन जीवों की विराधना होती है । यह पद बोलते हुए उन सब विराधनाओं को याद करके क्षमापना करनी चाहिए ।

चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय : साधारण वनस्पतिकाय के जीवों की योनि चौदह लाख है ।

साधारण वनस्पतिकाय के दो प्रकार हैं : सूक्ष्म एवं बादर । उनमें बादर साधारण वनस्पतिकाय लोक के नियत भागों में ही होते हैं । उनके अनेक प्रकार हैं ।

उनको पहचानने के चिह्न शास्त्र में इस प्रकार बताए गये हैं : जिनकी नसे, संधि गुप्त[8] हों, जिनके भाग करने से दो समान भाग होते हों एवं जिनके किसी

---

8. गूढसिर संधि पव्वं, समभंगमहिरुगं च छिन्नरुहं ।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं ।।१२।। - जीवविचार गाथा-१२.
इस सूत्र की विशेष जानकारी सूत्र संवेदना-८ में 'वंदित्तु' सूत्र में से जानना ।

एक टुकडे को भी बोने से पुनः उग सके, वैसे वनस्पति के जीवों को साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं ।

जो साधारण वनस्पतिकाय जमीन में उगते हैं उन्हें कंदमूल भी कहते हैं । उनके एक ही शरीर में अनंत जीव होने से उन्हें अनंतकाय या निगोद भी कहते हैं । आलू, प्याज, मूली, गाजर, कच्ची अदरक, जमीकंद, कच्ची हल्दी, पांच वर्ण की फफूँद वगैरह अनंतकाय जीवों के अनेक प्रकार हैं ।

स्वाद की खातिर या शरीर के राग से जब भी ऐसे जीवों की विराधना हुई हो, उन सब विराधनाओं को इस पद द्वारा याद करके उन जीवों से क्षमायाचना करनी चाहिए ।

बे लाख बेइन्द्रिय : बेइन्द्रिय जीवों की योनि दो लाख है ।

शंख, कोडी, अलसिया, जोंक वगैरह बेइन्द्रिय जीव हैं । बासी भोजन आदि में भी बेइन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है, वैसा शास्त्र में कहा गया है। इसलिए ब्रेड, बटर (मक्खन), चीज, पिज़ा की रोटी, किसी भी प्रकार का tinned food या होटल-लारी आदि से किसी भी प्रकार का बासी खाना खाने से, अनछना पानी के उपयोग करने से उन जीवों की विराधना होती है। इसके अलावा घी, अनाज या पानी की टंकी में भी जयणा न रखी जाए, तो बेइन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है एवं उसके बाद विराधना की परंपरा चलती है । जाने अनजाने ऐसी कोई विराधना हुई हो, तो उनकी यह पद को बोलते हुए क्षमापना मांगनी चाहिए ।

बे लाख तेइन्द्रिय : तेइन्द्रिय जीवों की योनि दो लाख है ।

कीडा, मकोडा, जूं, लीख, सवा, ईयल, दीमक वगैरह तेइन्द्रिय जीव हैं । इन जीवों की उत्पत्ति जिसमें हुई हो, वैसे अनाज को पीसवाने में, खाट, गद्दे वगैरह धूप में रखने से, जंतुनाशक दवाइयों का उपयोग करने से इन जीवों की हिंसा होती है, ऐसी हिंसा को याद करके उन जीवों से क्षमा याचना करनी चाहिए ।

बे लाख चउरिन्द्रिय : चउरिन्द्रिय जीवों की योनि दो लाख है ।

बिच्छू, मक्खी, भौंरा, कंसारी, डाँस, मच्छर, टिड्डी, तितलियाँ, मकडी वगैरह चउरिन्द्रिय जीव हैं । इन जीवों के उपर द्वेष करने से, उनकी उत्पत्ति रोकने अथवा उनको मारनेवाली दवाइयों आदि का उपयोग करने से उन जीवों की विराधना होती है । ये पद बोलते हुए ऐसी विराधना की क्षमापना करनी चाहिए ।

चार लाख देवता : देवों की योनि चार लाख है ।

देवों के मुख्य चार प्रकार हैं : भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष एवं वैमानिक - इन चार प्रकार के देवों संबंधी मन से कोई अशुभ चिंतन किया हो या अन्य किसी तरीके से उनको पीड़ा हुई हो, तो वह देवयोनि संबंधी विराधना है । ये पद बोलते हुए ऐसी विराधना की क्षमापना करनी चाहिए ।

चार लाख नारकी : नारक जीवों की योनि चार लाख है ।

रत्नप्रभा आदि सात प्रकार के नरक हैं, जिनमें नारकी के जीव रहते हैं । वहाँ रहे हुए जीवों की मन आदि से कोई विराधना हुई हो, तो उनको इस पद द्वारा याद करके क्षमापना करनी चाहिए ।

चार लाख तिर्यंच-पंचेन्द्रिय : पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों की योनि चार लाख है ।

पाँच इन्द्रियों वाले तिर्यंच जीवों के तीन प्रकार हैं -

(१) **जलचर जीव** अर्थात् पानी में रहनेवाले मछली, कछुए, मगर वगैरह।

(२) **स्थलचर जीव** अर्थात् जमीन पर चलनेवाले जीव । उनके तीन प्रकार हैं।

(अ) चतुष्पद - चार पैरवाले जीव जैसे, कि गाय, भैंस, घोड़ा, कुत्ता बिल्ली वगैरह ।

(ब) भुज परिसर्प - हाथ से चलनेवाले जीव-चूहा, छिपकली, नेवला वगैरह।

(क) उरपरिसर्प - पेट से चलनेवाले जीव-सांप, अजगर वगैरह ।

(३) **खेचर जीव -** अर्थात् आकाश में उड़नेवाले जीव-चिड़िया कबूतर, तोता, मैना वगैरह ।

इन जीवों की प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी भी तरीके से विराधना हुई हो, तो उनको स्मृतिपटल पर लाकर यह पद बोलते हुए क्षमापना करनी चाहिए ।

चौदह लाख मनुष्य : मनुष्य की योनि चौदह लाख हैं ।

अलग अलग अपेक्षा से मनुष्य के बहुत से भेद हैं, तो भी सामान्य से कर्मभूमि के, अकर्मभूमि के एवं अंतर्द्वीप के ऐसे तीन भेद मुख्य हैं । उन सब के संमूर्च्छिम एवं गर्भज ऐसे दो तरह के विभाग - भेद हैं । गर्भज मनुष्य अर्थात् गर्भ में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य । गर्भज मनुष्यों से अलग हुए मल, मूत्र, श्लेष्म आदि अशुचि पदार्थों में एवं अशुचि स्थानों में भी जो अपनी आँखों से दिखाई नहीं देते वैसे मनुष्य खुद ब खुद उत्पन्न होते हैं, उन्हें संमूर्च्छिम मनुष्य कहते हैं तथा मुख की लार का जिसमें मिश्रण होने की संभावना है वैसे अन्न, पानी आदि में भी दो घडी (४८ मिनिट) के बाद संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं । उपयोगपूर्वक जीवन न जीने से - सावधानी न रखने से इन जीवों की विराधना होती है ।

इसके अलावा किसी भी जीव को दुःख देनेवाली वाणी बोलना, उसके उपर राग या द्वेष करना या उससे अधिक काम लेना, उन जीवों को मारना, पीटना, कैद में रखना, जलाना आदि अनेक प्रकार से मनुष्यों की हिंसा सम्भवत होती है । उन सब को याद करके यह पद बोलते हुए उनकी क्षमायाचना करनी चाहिए।

ऐवंकारे चोराशी लाख जीवायोनिमांहे माहरे जीवे जे कोई जीव हण्यो होय, हणाव्यो होय, हणतां प्रत्ये अनुमोद्यो होय, ते सविहु मन-वचन-कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ।

इस प्रकार से सब जीवों की योनियों को जोड़ें तो ८४ लाख होता है।

कर्म के बंधन से बंधे हुए अनंत जीव चौदह राजलोक रूप क्षेत्र में ८४ लाख

योनि[9] द्वारा जन्म मरण करते हैं एवं सुखमय जीवन जीने की इच्छा रखते हैं । ऐसे जीवों को हम अपने स्वार्थ के लिए, शौक या सजावट के लिए पीड़ा देते हैं या हिंसा करते हैं, उनके सुख की इच्छाओं को तोड़ देते हैं एवं अपने सुख के लिए उनके सुख को गौण करके उनको अनेक प्रकार से दुःखी करते हैं।

---

9. ८४,००,००० जीव योनि की गिनती इस तरह से हो सकती है -
जिनका वर्ण, गंध, रस, स्पर्श एवं संस्थान एक जैसे हो वैसी अनेक योनि के समुदाय की एक योनि गिनी जाती है ।

वर्ण-५ : लाल, नीला, पीला, काला एवं सफेद

गंध-२ : सुरभि गंध एवं दुरभि गंध

रस-५ : तीखा, कडवा, खट्टा, कषाय, खारा

स्पर्श - ८ : स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, मुलायम, खुररबुड, कठोर एवं नरम

संस्थान-५ : गोल, चोरस, लंबचोरस, त्रिकोण, परिमंडला

५ X २ X ५ X ८ X ५ = २००० । वर्णादि के इस प्रकार २००० भेद होते हैं ।

पृथ्वीकाय जीवों के मूल भेद	३५० X २००० = ७,००,०००
अप्काय के जीवो के मूलभेद	३५० X २००० = ७,००,०००
तेउकाय जीवों के मूल भेद	३५० X २००० = ७,००,०००
वायुकाय जीवों के मूल भेद	३५० X २००० = ७,००,०००
प्रत्येक वनस्पतिकाय जीवों के मूल भेद	५०० X २००० = १०,००,०००
साधारण वनस्पतिकाय जीवों के मूल भेद	७०० X २००० = १४,००,०००
बेइन्द्रिय जीवों के मूल भेद	१०० X २००० = २,००,०००
तेइन्द्रिय जीवों के मूल भेद	१०० X २००० = २,००,०००
चउरिन्द्रिय जीवों के मूल भेद	१०० X २००० = २,००,०००
देवता के जीवों के मूल भेद	२०० X २००० = ४,००,०००
नारकी के जीवों के मूल भेद	२०० X २००० = ४,००,०००
तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के मूल भेद	२०० X २००० = ४,००,०००
मनुष्य जीवों के मूल भदे	७०० X २००० = १४,००,०००
	कुल ८४,००,००० जीवायोनि

ये ८४ लाख योनि की गणना में ३५० आदि जो जीवों के मूल भेद बताए हैं, उनको ढूँढने का हमने प्रयत्न किया है । परन्तु कोई पुस्तक या ज्ञानी गुरु भगवंतों से संतोष जनक उत्तर मिला नहीं । किसी भी विशेषज्ञ को इस विषय में कहीं भी कुछ भी प्राप्त हो तो पाठ के आधार के साथ हमें बताने की कृपा करेंगे ।

इन ८४ लाख योनियों में उत्पन्न हुए जीवों की अनुपयोग से, स्वेच्छा के अधीन होकर या प्रमादादि दोषों के कारण स्वयं हिंसा की हो, अन्य के पास करवाई हो या हिंसा करते अन्य जीवों की अनुमोदना की हो तो उन सब पापों का गुरु भगवंत के पास मन से, वचन से एवं काया से 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना चाहिए ।

इस सूत्र के प्रत्येक पद को बोलते हुए आत्मशुद्धि की इच्छावाला साधक सोचता है कि "दिवस या रात्रि के दौरान मेरे द्वारा किन जीवों की कितने प्रमाण में हिंसा हुई ? मैंने हिंसा अनिवार्य संयोग में की या अपने शौक एवं अनुकूलता का साधन प्राप्त करने के लिए की ? अनिवार्य संयोग में भी जब करनी पड़ी, तब जयणापूर्वक दुःखार्द्र हृदय से की या 'संसार में जीने के लिए ऐसा तो करना ही पड़ता है, ऐसा मानकर कठोर हृदय से की ?" इन सब मुद्दों का विचारकर जिन-जिन जीवों की हिंसा हुई हो, उन-उन जीवों का स्मरण कर, उन जीवों संबंधी हुए अपराधों के प्रति मन में क्षमा का भाव प्रकट करके, वाणी को कोमल बनाकर, उन अपराधों की स्वीकृति रूप काया को झुकाकर उन जीवों को दुःखार्द्र हृदय से मिच्छा मि दुक्कडं देना चाहिए ।

मिच्छा मि दुक्कडं देते हुए प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए,

"हे नाथ ! कब मेरा ऐसा धन्य दिवस आयेगा कि जब मैं सब जीवों को मित्र समान मानूँगा ? एवं उन जीवों को लेशमात्र भी पीड़ा न हो वैसा जीवन जीऊँगा ? हे प्रभु ! जीवों के अपराध से जब तक मैं नहीं रुकूँगा तब तक उन जीवों के साथ के वैर का अनुबंध भी नही छूटेंगा और कर्मबंध भी होता रहेगा, इसलिए मुझे सर्व प्रथम सर्व जीवों की हिंसा से रुकना है, तो हे प्रभु ! मुझ में ऐसा सत्त्व प्रगट करवाइए कि, जिससे मैं संयम जीवन स्वीकार कर उसका निरतिचार पालन कर जीवों की हिंसा से बच पाऊँ ।"

अठारह पापस्थानक सूत्र

सूत्र परिचय :

पापबंध के कारणभूत अठारह स्थानक का वर्णन इस सूत्र में है, इसलिए इसका नाम '**अठारह पापस्थानक सूत्र**' है ।

पापबंध का मूल कारण मन की मलिन वृत्तियाँ हैं । कषायों एवं कुसंस्कारों के कारण प्रकट होने वाली ये मलिन वृत्तियाँ असंख्य प्रकार की होती हैं, तो भी सूत्रकारों ने सामान्यजन समझ सकें, इस प्रकार संक्षेप में उनके अठारह प्रकारों का इस सूत्र में वर्णन किया हैं ।

पाप करवानेवाली वृत्तियाँ प्रायः पहले मन में जन्म लेती हैं एवं उसके बाद वाणी एवं काया द्वारा विस्तार पाकर अनेक कुप्रवृत्तियों रूप स्व-पर के दुःखों का कारण बनती हैं ।

दुःख किसी को प्रिय नहीं लगता, परन्तु दुःख के कारण को सामान्यजन नहीं समझ सकते, इसलिए, इस सूत्र में हर कोई समझ सकें वैसे शब्दों में दुःख के कारण रूप पाप के अठारह स्थानों का निर्देश किया गया है । प्रतिक्रमण करते समय इन स्थानों को मात्र बोलने से कोई फायदा नहीं होता । इस सूत्र को बोलने से पहले उसके प्रत्येक पद पर मात्र विचार ही नहीं, बल्कि गहरी अनुप्रेक्षा करनी

अत्यावश्यक है, क्योंकि तब ही ख्याल आएगा कि अंतर की गहराई में कैसे-कैसे कुसंस्कार पड़े हैं, मन में कैसी-कैसी मलिन वृत्तियाँ चल रही हैं एवं कषाय के अधीन बनकर हम कैसी-कैसी कुप्रवृत्तियाँ कर रहे हैं । इन बातों का ख्याल आएगा, तो ही पाप के कारणों पर घृणा होगी, तिरस्कार भाव जागृत होगा एवं उनसे वापिस लौटने का मन होगा ।

ऐसी तैयारी के साथ इस सूत्र का प्रत्येक पद बोला जाए तो वे पद हृदय स्पर्शी बनेंगे एवं उनसे एक शुभभावना का स्रोत उद्भव होगा, अंतर में पश्चात्ताप की अग्नि प्रगट होगी एवं यह पश्चात्ताप ही मलिन वृत्तियों का नाश करने का कार्य करेगा ।

इसलिए, सूत्र या सूत्र के अर्थ मात्र जानने से बेहतर उसको हृदय स्पर्शी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, इतना ही नहीं, **सूत्र का उच्चारण भी इस प्रकार से करना चाहिए** कि पापवृत्ति या पापप्रवृत्ति करने को प्रेरित हुए मन एवं इन्द्रियाँ पीछे लौटें ।

इस सूत्र में जो अठारह पाप स्थानों का निर्देश किया गया है, उसमें सर्वप्रथम हिंसा बताई गई है क्योंकि सर्व पापों में हिंसा का पाप मुख्य है। उपरांत अपेक्षा से हिंसा में सभी पापों का समावेश हो जाता है । कुछ पाप साक्षात् द्रव्य हिंसा का कारण बनते हैं तो कुछ भावहिंसा के कारण बनते हैं। लौकिक धर्म भी हिंसा को अधर्म और अहिंसा को धर्म मानता है एवं हिंसा को सर्व पापों में मुख्य माना जाता है। इसीलिए अठारह पाप स्थानक में उसे प्रथम रखा है।

उसके बाद असत्य, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह नाम के पापस्थान बताएं हैं क्योंकि इन चार पापों को भी सभी धर्मशास्त्र पाप मानते हैं ।

उसके बाद क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष - इन छः अंतरंग शत्रुओं को पाप स्थानक के रूप में बताया गया है । क्षमा, नम्रता, मृदुता, सरलता, संतोष आदि आत्मा के सुखकारक गुणों का नाश करनेवाले इन छः शत्रुओं से आत्मा खुद तो दुःखी होती है एवं साथ रहनेवाले के लिए भी वह दुःख का कारण बनती है ।

इसके बाद इस क्रोधादि विकार के ही परिणामरूप कलह, गलत कलंक, चुगली, इष्ट वस्तु पर आसक्ति, अनिष्ट में होनेवाली अरति, दूसरों के साथ सच्ची-झूठी बातें (निंदा) एवं मायापूर्वक मृषा भाषण के पाप बताये गये हैं ।

अंत में उपर के सत्तर पापों को पाप के तौर पर स्वीकृत न करने देनेवाला, देव-गुरु और धर्म के उपर अश्रद्धा खड़ी करानेवाला एवं धर्म मार्ग में अत्यंत विघ्नभूत बननेवाला सब से बडे पाप 'मिथ्यात्वशल्य' का निर्देश किया गया है। जगत् के जीव तो इन अठारहवें पाप को पाप रूप मानते ही नहीं, मात्र लोकोत्तर जैन शासन की सूक्ष्म समझ जिसे प्राप्त हुई हो वैसे जीव ही इस पाप को पाप रूप से परखते हैं एवं उसके नाश के लिए प्रयत्न करते हैं ।

उपर्युक्त अठारह पापों को पहचान कर, उनका त्याग करने के लिए तत्पर होना ही इस सूत्र का सार है । अगर श्रावक प्रतिक्रमण की पूरी क्रिया करने में समर्थ न हो तो भी उसे इस सूत्र के एक एक पद का उच्चारण करके, दिवस या रात्रि के दौरान आचरित पापों का स्मरण करके, उनकी आलोचना, निंदा करने से नहीं चूकना चाहिए ।

महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजने इन अठारह पापस्थानों को सरल तरीके से समझाने के लिए गुजराती भाषा में अति सरल गेय रागों में अठारह पापस्थान की सुन्दर सज्झाय बनाई है । जिज्ञासु वर्ग के लिए उनके अर्थ समझकर, उनको कंठस्थ करना अति आवश्यक है । पल पल पापस्थानकों का सेवन करनेवाले साधक को उनकी पंक्तियां सावधान करके बचा सकती हैं।

यहाँ जो अठारह पापस्थानक बताए हैं, उनका निर्देश 'ठाणंग सूत्र', 'प्रश्न-व्याकरण' आदि आगमों में, 'प्रवचनसारोद्धार' एवं 'संथारा पोरिसी' आदि अनेक ग्रंथों में मिलता है । इस सूत्र का उपयोग श्रावक देवसिअ, राइअ, पक्खिअ आदि पांचों प्रतिक्रमण में करते हैं ।

साधु साध्वीजी भगवंत प्रतिक्रमण में यह सूत्र नहीं बोलते, तो भी वे 'संथारा पोरिसी' पढते वक्त संक्षेप में इन अठारह पापों की आलोचना तो करते ही हैं ।

मूलसूत्र :

पहेले प्राणातिपात,
बीजे मृषावाद,
त्रीजे अदत्तादान,
चोथे मैथुन,
पांचमे परिग्रह,
छट्ठे क्रोध,
सातमे मान,
आठमे माया,
नवमे लोभ,
दशमे राग,
अगियार में द्वेष,
बारमे कलह,
तेरमे अभ्याख्यान,
चौदमे पैशुन्य,
पंदरमे रति-अरति,
सोळमे परपरिवाद,
सत्तरमें मायामृषावाद,
अढारमे मिथ्यात्वशल्य;

ए अढार पापस्थानकमांहि माहरे जीवे जे कोई पाप सेव्युं होय, सेवराव्युं होय, सेवतां प्रत्ये अनुमोद्युं होय; ते सविहु मन, वचन, काया ए करी मिच्छा मि दुक्कडं ।

विशेषार्थ :

जो पापों[1] का स्थान है, जिनके सेवन से पापकर्मों का बंध होता है, जो आचरण जीव को इस लोक एवं परलोक में दुःखी करता है, उस आचरण को पापस्थानक कहते हैं । ऐसे पापस्थानक अठारह हैं । यहाँ उनका क्रमशः उल्लेख किया गया है ।

पहले प्राणातिपात : पाप का पहला स्थान 'प्राणातिपात' है ।

प्राणों[2] का अतिपात अर्थात् प्राणों का नाश । संक्षेप में प्राणातिपात अर्थात् हिंसा । किसी भी जीव को दुःख हो, पीडा हो, परिताप हो या सर्वथा उसके प्राणों का वियोग हो, वैसी प्रवृत्ति को हिंसा कहते हैं ।

जगत् के जीव मात्र को जीवन प्रिय होता है, मरना किसी को प्रिय[3] नहीं । जीवन में आनंद का अनुभव कर रहे निरपराधी जीवों को मात्र अपने सुख के लिए या शौक एवं आराम के लिए पीडा पहुँचाना, त्रास देना, हनन करना या उन जीवों के प्राण चले जाएं, ऐसी प्रवृत्ति करना हिंसा है ।

हिंसा करने से जीव पीड़ा पाते हैं, तड़पते हैं, दुःखी होते हैं एवं हिंसा करनेवाले के प्रति वैर की गांठ बांधते हैं । फलतः "यदि शक्ति आये तो इन लोगों को खतम करूँ," -'वैसी दुर्भावना उनके मन में जागृत होती है । अतः, जिस प्रकार दूसरे पर अंगारे फेंकनेवाले खुद अपने हाथ को भी जलाते हैं, वैसे ही अन्य जीब को पीडा देने वाले या हिंसा करनेवाले भी खुद को सुख देनेवाले कोमल भावों का त्याग कर दुःख देनेवाले कठोर भावों को प्राप्त करते हैं ।

---

1. 'पापानां स्थानकमिति पापस्थानकम् ।' पाप शब्द की व्याख्या 'सूत्र संवेदना' भाग-१ सूत्र में देखें।
2. जीवों के जीवन जीने के साधन प्राण कहलाते हैं एवं वे पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयुष्य एवं श्वासोच्छ्श्वास ऐसे दस हैं । एकेन्द्रिय के ४, बेइन्द्रिय के ६, तेइन्द्रिय के ७, चउरिन्द्रिय के ८, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के ९ एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय के १० प्राण होते हैं । इन (द्रव्य) प्राण का वियोग मरण कहलाता है । इस विषय का विशेष विचार सूत्र-संवेदना-४ 'वंदित्तु' सूत्र में हैं ।
3. नरक के जीवों को छोड़कर सब को अपना जीवन प्रिय होता है एवं मरण अप्रिय होता है ।

इस प्रकार अन्य की हिंसा करनेवाला जीव खुद की भी भावहिंसा करता है, कर्म का बंध करता है एवं दुर्गति की परंपरा का सृजन करता है । माता के आग्रह से मात्र एक मिट्टी का मूर्गा बनाकर, उसका वध करनेवाले यशोधर राजा को तिर्यंचगति की कैसी परंपरा मिली; यह याद करके भवभीरु आत्मा को इस हिंसा नामके पहले पापस्थानक को छोड़ देना चाहिए ।

जिज्ञासा : गृहस्थ जीवन में हिंसा का संपूर्ण त्याग कैसे हो सकता है ?

तृप्ति : गृहस्थजीवन में साधु की तरह हिंसा का संपूर्ण त्याग सम्भव नहीं है । गृहस्थ को अपने जीवन निर्वाह के लिए एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा अनिवार्यरूप से करनी पड़ती है, तो भी वह चाहे तो हिंसा को मर्यादित अवश्य कर सकता है । इसके अतिरिक्त, हिंसामय कार्य करते समय, श्रावक के हृदय में रहा हुआ जयणा का परिणाम (जीवों को बचाने का भाव) उसे निरर्थक हिंसा से बचाने के साथ साथ उसके हृदय के भाव कोमल बनाए रखता है ।

हिंसामय कार्य करते समय भी श्रावक सतत सोचता रहता है कि, "मैं संसार में हूँ । इसलिए मुझे ऐसे हिंसादि पाप करने पड़ रहे हैं, कब ऐसा धन्य दिन आएगा कि जब मैं इन हिंसादि पापों से छूटकर सर्वविरति धर्म का स्वीकार करूँगा ?" हृदय की कोमलता एवं ऐसी भावना के कारण उसे कर्मबंध भी बहुत कम होता है और अनावश्यक हिंसा से बचने का प्रयत्न, अनिवार्य रूप से होनेवाली हिंसा से भी छूटने की भावना एवं इसके साथ ही हृदय में सतत बहते हुए दया के भाव, श्रावक को शायद कर्मबंध से न बचा सकें तो भी हिंसा द्वारा होते हुए कर्म के अनुबंध से तो बचाते ही हैं ।

इस पद का उच्चारण करते समय सोचना चाहिए, "आज के दिन में अजयणा से, अनुपयोग से मैंने कितने जीवों की हिंसा की ? कितने जीवों को पीडा दी ? किन जीवों का किस प्रकार से अपराध किया ?"

उन सब विषयों को स्मृति में लाकर करुणा भरे हृदय से उनसे क्षमा मांगकर, अपने इन दुष्कृत्यों का मन, वचन, काया से मिच्छा मि दुक्कडं देना चाहिए ।

बीजे मृषावाद : पाप का दूसरा स्थानक 'मृषावाद' है ।

मृषा अर्थात् गलत एवं **वाद** अर्थात् बोलना । गलत बोलना - झूठ बोलना मृषावाद नाम का दूसरा पाप स्थानक है। वस्तु या व्यक्ति जैसा है उससे विपरीत उसे बताना या उसके यथार्थ (सत्य) स्वरूप का वर्णन भी किसी का अहित हो उस तरह करना मृषावाद है । जैसे कि, कषाय के अधीन होकर अच्छे इन्सान को खराब कहना अथवा शिकारी पूछे कि हिरण किस दिशा में गया ? तब हिरण का हिताहित सोचे बिना यथार्थ उत्तर देना, क्रोधादि कषाय के अधीन होकर सामनेवाले व्यक्ति की वेदना का विचार किए बिना अंधे को अंधा या मूर्ख को मूर्ख कहना भी मृषावाद है ।

शब्दादि विषयों के अधीन होकर, कषायों के परवश होकर, विकथा के रस में लीन बनकर या अधिक बोलने की बूरी आदत के कारण, सोचे बिना जो व्यक्ति मन में आए वो बोला करते है, वे प्रायः इस पाप से नहीं बच सकते। सावधान न रहें तो व्यवहार में छोटी छोटी बातों में, कई स्थानों पर इस तरीके से असत्य बोला जाता है । अपने से कभी गलत न बोला जाए, मृषावाद भाषा का पाप न लग जाए, ऐसी सावधानी रखकर जो विचार करके बोलते हैं, वे ही इस पाप से बच सकते हैं ।

इसलिए शास्त्रकारों ने बताया है कि, आत्महित के इच्छुक साधकों को आवश्यकता के बिना बोलना ही नहीं चाहिए एवं जब बोलना पड़े तब भी स्व-पर के हित का विचार करके प्रमाणित शब्दों में एवं सामनेवाले व्यक्ति को रुचिकर हो उतना ही बोलना चाहिए ।

यह पद बोलते समय दिन के दौरान क्रोधादि कषायों के अधीन होकर, विकथा करने में लीन होकर या विषयासक्त बनकर, छोटे से छोटे विषय में भी कहाँ मृषा बोला गया ? पुण्य से मिले हुए वचन योग का कितना दुरुपयोग हुआ ? उसका विचार कर पुनः वैसा न हो वैसे परिणामपूर्वक 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना चाहिए ।

त्रीजे अदत्तादान : पाप का तीसरा स्थानक 'अदत्तादान' अर्थात् चोरी है।

अदत्त = मालिक द्वारा नहीं दिया गया, आदान = ग्रहण करना उसे व्यवहार में चोरी कहते हैं ।

अदत्तादान याने चोरी चार प्रकार[4] से होती है : १-स्वामी अदत्त, २-जीव अदत्त, ३-तीर्थंकर अदत्त, ४-गुरु अदत्त । श्रावक के लिए शायद इन चारों अदत्त से बचना संभव न हो, तो भी श्रावकों को 'स्वामी अदत्त' से तो जरूर बचना चाहिए । धन, संपत्ति आदि उसके मालिक की इच्छा के बिना ग्रहण करना, लूटपाट करना या बिना हक का लेना चोरी है । इस प्रकार चोरी करने से धन के मालिक को अत्यंत दुःख होता है । कभी तो उसकी मृत्यु भी हो जाती है । इसके अलावा, खुद के परिणाम भी अत्यंत क्रूर बनते हैं क्योंकि अशुभ लेश्या के अधीन हुए बिना जीव चोरी आदि निंदनीय प्रवृत्ति नहीं कर सकता ।

ऐसी क्रिया से आत्मा के उपर अत्यंत कुसंस्कार पड़ते हैं । ये संस्कार भव-भवांतर में साथ चलते हैं पूर्व जन्म के कुसंस्कारों के कारण बहुतों को तो बाल्यावस्था से ही छोटी-छोटी चोरी करने की आदत होती है । स्कूल में जाएं तो पेन आदि चुराने की, घर में से चुपचाप चोरी छुपे पैसे लेने की, दुकान में से चोरी छुपे माल ले-लेने की एवं व्यापार में भी कम देना एवं अधिक लेने की आदत होती है ऐसे चोरी के कुसंस्कार मानव को कहां से कहाँ ले जाते हैं, उसका विचार करके, इस पाप से बचने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए ।

इस पद का उच्चारण करते हुए दिन के दौरान, लोभ के अधीन होकर, अगर राज्य चोरी, दान चोरी या अन्य किसी भी प्रकार से छोटी बडी चोरी हो गई हो तो उसको याद करके, ऐसे पाप के प्रति तिरस्कार का भाव प्रगटकर पुनः ऐसे पाप न हो वैसे संकल्प के साथ मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं देना चाहिए ।

---

4. इन चार अदत्त की विशेष समझ के लिए देखें 'सूत्र संवेदना' भा-१ पंचिदिय सूत्र एवं भा-४ 'वंदित्तु सूत्र' का तीसरा व्रत ।

चौथे मैथुन : पाप का चौथा स्थानक "मैथुन" है ।

मिथुन का भाव मैथुन है । वेदमोहनीय कर्म के उदय से होनेवाला यह आत्मा का विकृत भाव है । मिथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष का युगल । राग के अधीन होकर स्त्री-पुरुष की, तिर्यंच-तिर्यंचीनी की या देव-देवी की जो परस्पर भोग की प्रवृत्ति या काम-क्रीडा होती है, उसे मैथुन क्रिया कहते हैं ।

अनादिकाल से जीव में आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह ऐसी चार प्रकार की संज्ञा निहित है । उनमें मैथुन संज्ञा के अधीन बना हुआ जीव न देखने योग्य दृश्यों को देखता है, न करने योग्य चेष्टाएं करता है, न सोचने योग्य सोचता है, विजातीय को आकर्षित करने के लिए मन चाहे वस्त्रों को पहनता है, कटाक्ष करता है एवं अब्रह्म की प्रवृत्तियों में जुड़ता है । मर्यादाहीन बनी यह संज्ञा बहुत बार कुल की, जाति की या धर्म की मर्यादा का भी भंग कराती है एवं मानव से पशु जैसा आचरण करवाती है ।

'संबोध सत्तरी[5]' ग्रंथ में कहा है कि, इस संज्ञा के अधीन हुआ, मैथुन क्रिया में प्रवृत्त जीव दो लाख से नव लाख बेइन्द्रिय जीवों का तथा नौ लाख सूक्ष्म (असंज्ञी पंचेन्द्रिय) जीवों का संहार (नाश) करता है । मैथुन के समय, लोहे की नली में रूई भरी हो एवं उसमें तपी हुइ सलिया डालने से जिस प्रकार रुई जल जाती है, उसी प्रकार योनि में रहें जीवों का संहार (नाश) होता है, ऐसा 'तंदुलवियालिय पयन्ना' में बताया है ।

इसके अतिरिक्त, अब्रह्म की प्रवृत्ति से मैथुन संज्ञा के संस्कार तीव्र-तीव्रतम कोटि के बनते जाते हैं । इसलिए समझदार श्रावक को यथाशक्ति प्रयत्न द्वारा उसका त्याग करना चाहिए एवं वैसा सामर्थ्य न हो तब तक अत्यंत मर्यादित जीवन जीने का खास प्रयत्न करना चाहिए ।

---

5. इत्थीणं जोणीसु, हवंति बेइंदिया य जे जीवा ।
इक्को य दुन्नि तिन्नि वि, लक्खपुहुत्तं तु उक्कोसं ।।८३।।
मेहुणसन्नारुढो, नवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं ।
तित्थयरेणं भणियं, सद्दहियव्वं पयत्तेणं ।।८६।। - संबोधसत्तरि

इस पद का उच्चारण करते हुए, मैथुन संज्ञा के अधीन बनकर मलिन वृत्ति को पोसनेवाले कुविचार मन से किये गये हो, विकार की वृद्धि करनेवाली वाणी का व्यवहार किया हो, काम को उत्तेजित करनेवाली दुःचेष्टा काया से की हो, तो उनको याद करके, ऐसे व्यवहार के प्रति अत्यंत जुगुप्सा भाव प्रगट करके, पुनः ऐसा न हो उसके लिए अन्तःकरणपूर्वक मिच्छा मि दुक्कडं देना चाहिए ।

पांचमे परिग्रह[5A] **:** पाप का पाँचवां स्थान 'परिग्रह' है ।

वस्तु का संग्रह करना अथवा वस्तु के प्रति ममत्व रखना परिग्रह[6] है । धन, धान्य, घर, दुकान, वस्तु, सोना, चांदी, जर, जमीन वगैरह नौ प्रकार के परिग्रह में से किसी भी वस्तु का संग्रह करना द्रव्य परिग्रह है एवं नौ में से किसी एक का भी संचय किया हो या न किया हो, तो भी उनके प्रति ममता रखना, भाव परिग्रह है । द्रव्य से उन उन वस्तुओं का संग्रह, आरंभ-समारंभ का कारण बनता है एवं उनके प्रति ममत्वभाव या मूर्च्छा कषायरूप होने से, कर्म-बंध का कारण बनती है । इसलिए सुश्रावकों को अल्प परिग्रही होना चाहिए एवं पुण्य से प्राप्त हुई सामग्री में भी विशेष मूर्च्छा-ममत्वभाव न हो जाए उसकी सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि वास्तव में मूर्च्छा ही परिग्रह है[7]. मूर्च्छा के बिना चक्रवर्ती का राज्य भुगतनेवाला भी अपरिग्रही है एवं मूर्च्छावाला भिखारी हो तो भी वह परिग्रही है, ऐसा होते हुए भी प्रारंभिक कक्षा में वस्तु रखना एवं मूर्च्छा

5A. पहले पांच पाप स्थानों की विशेष समझ के लिए देखें सूत्र संवेदना-४ वंदित्तु सूत्र गा. ९ से १८ का विशेषार्थ देखें।

6. परि=चारों तरफ से अ ग्रह=स्वीकार

7. न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा, मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ।।

- दश वैका. - अ.६ गा.२१

मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं, जगदेव परिग्रहः मूर्च्छारहितानां तु जगदेवापरिग्रहम् ।।

- ज्ञानसार २५.८

मूर्च्छा से ढकी हुई बुद्धिवाले को पूरा जगत परिग्रह है और मूर्च्छारहित को पूरा जगत अपरिग्रह है ।

प्राणातिपात आदि प्रथम पाँच पापस्थान से सर्वथा रुकने के लिए चित्तवृत्ति का अभ्यास किस तरह करना उसके लिये सूत्र सं. ४ वंदितु सूत्र देखें ।

न होने देना बहुत कठिन है । इसलिए द्रव्य परिग्रह का त्याग करना अथवा कम से कम मर्यादा बांधना हितावह है ।

यह पद बोलते हुए स्वजीवन में धन-धान्यादि का संग्रह कितना अनावश्यक है उसे याद करके, 'यह भी पाप है, इसलिए छोड़ने योग्य है,' वैसा निर्णय करके परिग्रह के पाप की निंदा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण करते हुए 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना चाहिए।

छट्ठे क्रोध : पाप का छट्ठा स्थान है 'क्रोध'[8].

क्रोध कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाला आत्मा का विकृत परिणाम है । गुस्सा, क्रोध, आवेश, बैचेनी, अधीराइ, घृणा, अरुचि ये सब क्रोध के पर्याय हैं ।

किसी का अपराध या भूल सहन नहीं होने के कारण वाणी में उग्रता, काया में कंप या मन में आवेश, अधीरता या घृणा आदि के जो भाव पैदा होते हैं वे क्रोध के परिणाम हैं । वास्तव में तो **किसी के अपराध[9] को सहन नहीं करने का परिणाम ही क्रोध है ।** एक बार क्रोध करने से पूर्व करोड़ वर्ष तक पाला हुआ संयम भी व्यर्थ हो जाता है । क्रोध शांत-प्रशांत भाव का नाश करता है। क्रोध से कभी कार्य-सिद्धि नहीं होती । कभी क्रोध से कार्य-सिद्धि दिखे तो भी वह क्रोध के कारण नहीं होती, परन्तु वह कार्य-सिद्धि पूर्व संचित पुण्य से होती है । क्रोध कार्य को बिगाड़ता जरूर है, पर कभी कार्य को सुधार नहीं सकता। क्रोध की अग्नि खुद को भी जलाती है एवं इसके सान्निध्य में रहनेवाले अन्य को भी जलाती है । इसलिए कोई भी जीव चाहे कैसा भी अपराध करे तो भी उसके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए, बल्कि सोचना चाहिए कि, सब जीव अपने अपने कर्म के अधीन हैं । कर्माधीन जीवों की प्रवृत्ति के उपर घृणा, अरुचि बैचेनी करने से उन जीवों के प्रति वैमनस्य पैदा होता है ऐसा विचार करके क्षमा धारण करनी चाहिए ।

8. क्रोध, मान, माया, लोभ की विशेष समझ के लिए देखें 'सूत्र संवेदना भाग-१, सूत्र-२' 'चउविहकसायमुक्को' पद का विवरण ।

9. अपराधाक्षमा क्रोधो । - योगसार ३ : ५

एकपक्षीय क्रोध भी गुणसेन एवं अग्निशर्मा की तरह भवोभव तक वैरभाव की परंपरा चलाता है । महात्मा गुणसेन को तपस्वी की भक्ति करने की तीव्र भावना होती है, तो भी कर्म के उदय के कारण गुणसेन, तपस्वी अग्निशर्मा को पारने के लिए आमंत्रण देने के बाद भी सतत दो बार उसके पारने का दिन भूल जाता है । तब तक तो अग्निशर्मा शांत रहता है । परन्तु तीसरी बार भी जब गुणसेन पारने का दिन भूल जाता है तब अग्निशर्मा को पहले बाल्यावस्था में बारबार गुणसेन की हुई विडंबना-परेशानी का स्मरण हो आता है । फलतः स्वरूप वह अतिक्रोधित हो जाता है एवं आवेश में अपने किए हुए तप के प्रभाव से 'भवोभव गुणसेन को मारनेवाला बनूँ' ऐसा नियाणा करता है । इस क्रोध से अग्निशर्मा ऐसे अनुबंधवाले कर्म बांधता है कि हर एक भव में उसे गुणसेन की आत्मा को मारने का परिणाम ही पैदा होता है । इस तरह इस लोक एवं परलोक में प्राप्त होनेवाले क्रोध के कटु परिणाम का विचार कर क्रोध नामक पाप से बचने का सतत प्रयास करना चाहिए ।

यह पद बोलते समय दिन या रात्रि के दौरान किसी भी व्यक्ति या वस्तु के प्रति हुई घृणा, दुर्भाव या उनके प्रति हुए क्रोध के बारे में सोचकर इस प्रकार से 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना चाहिए कि फिर कभी भी हृदय में वैसा क्रोध प्रगट न होवे ।

सातमे मान : पाप का साँतवाँ स्थान है 'मान' ।

मान भी कषाय मोहनीय के उदय से हुआ आत्मा का विकार है । अभिमान, अहंकार, अक्कडता, असभ्यता, 'दूसरों से मैं बेहतर हूँ' ऐसा प्रस्थापित करने की भावना, 'दूसरों से मैं अलग हूँ' ऐसा दिखाने की भावना, अविनय इत्यादि मान के ही भिन्न भिन्न प्रकार हैं मान उत्पन्न होने के स्थान वैसे तो असंख्य हैं, परन्तु शास्त्रकारों ने इन सबका समावेश सामान्य तरीके से जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप एवं श्रुत इन आठ प्रकारों में किया है ।

'मेरी जाति उत्तम है, मेरी जाति के प्रभाव से मैं जो चाहे कर सकता हूँ, मेरा पुण्य प्रबल है, उसके प्रताप से मैं जो चाहे वह प्राप्त कर सकता हूँ, मेरा कुल

उत्तम है, मेरे पास अधिक संपत्ति है, बल में मेरी कोई बराबरी नहीं कर सकता, मेरे जैसा रूप तो कामदेव का भी नहीं है, तप एवं ज्ञान में भी मैं दूसरों की अपेक्षा से अधिक बेहतर हूँ ।' ऐसा मानकर, 'मैं कुछ हूँ, मेरे जैसा कोई नहीं' - ऐसा अभिमान का, अहंकार का जो भाव है, वह मान है ।

मनुष्य को सब से अधिक यह मान-कषाय परेशान करता है । ऐसा कहना शायद गलत नहीं कि, मानव चौबीसों घंटे अपने गर्व को तगडा बनाने में ही प्रयत्नशील रहता है; वह अपने मान-सम्मान को बनाये रखने के लिए अनेक भौतिक सामग्री एकत्रित करता है, जरूरत से अधिक कमाता है, बड़े बंगले बनाता है, कीमती गाडियाँ खरीदता है, महंगे महंगे अलंकार पहनता है, सुंदर वस्त्र पहनता है, पाई-पाई का हिसाब रखनेवाला कृपण इन्सान भी मान रखने के लिए प्रसंग आने पर तो लाखों-करोड़ों खर्च कर डालता है, इसका कारण एक ही है - मान कषाय ।

दुःख की बात तो यह है कि, क्रोध-कषाय को सब जानते हैं, परन्तु 'मेरे में मान है एवं मान से मैं ऐसी प्रवृत्ति करता हूँ' वैसा जानना, मानना या स्वीकार करना भी व्यक्ति को मुश्किल पड़ता है । अहंकारी व्यक्ति मान के पोषण के लिए लोभ के भी अधीन होता है, माया का सहयोग भी लेता है एवं मानहानि हो तब क्रोध भी करता है । इस मान-कषाय को पहचानने के लिए एवं पहचान कर उसे हटाने के लिए सद्गुरुओं का सहवास एवं सद्ग्रंथों का पठन पाठन अति आवश्यक है ।

मानवीय मन में पड़ा हुआ अभिमान इस भव में तो उसे दुःखी करता ही है, साथ ही सतत नीच गोत्र आदि कर्म को बंधवाकर भवोभव दुःखी करता है। इस भव में पुण्य से प्राप्त हुई अच्छी सामग्री के प्रति मान करने से मानवी ऐसा कर्म बांधता है कि, जिसके कारण उसे भवांतर में वह सामग्री हल्की-हीन प्राप्त होती है ।[10]

---

10. जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपश्रुतैः ।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः ।। - योगशास्त्र-४. १३ प्र.४, गा, १३

महावीरस्वामी भगवान के जीव ने जैसे मरीचि के भव में पुण्य से मिले अपने उच्च कुल का मद किया, तो उससे उन्होंने ऐसा नीच गोत्र कर्म बांधा कि जिससे तीर्थंकर के भव में भी प्रभु को ब्राह्मण जैसे भिक्षु कुल में जन्म लेना पड़ा । इसलिए इस मान-कषाय से मुक्ति पाने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए । इसके लिए बारबार ऐसा सोचना चाहिए कि - 'इतनी बड़ी दुनिया में मैं क्या हूँ ? महापुरुषों के सामने मेरी बुद्धि, बल या श्रीमंताई की क्या कीमत है ? और दुनिया में भी कहावत है कि - 'शेर के उपर सवा शेर होता है,' इससे भी फलित होता है कि दुनिया में मेरा स्थान कोई विशिष्ट नहीं। ऐसा सोचकर अभिमान का सर्वथा त्याग करना चाहिए एवं जीवन को विनय-नम्रता आदि गुणों से मधुर बनाकर रखना चाहिए ।

इस पद का उच्चारण करते समय दिन में प्रकट हुए तथा अंतर में सतत प्रवर्तमान मान को स्मरण में लाना है । उसकी अनर्थकारिता का विचार कर, उसके प्रति तीव्र घृणा, अरुचि प्रकट करनी है एवं मान की निंदा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण करके, 'मिच्छामि दुक्कडं' देकर मान के संस्कारों का समूल नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

आठमे माया : पाप का आठवां स्थान 'माया' है ।

यह माया भी कषाय मोहनीय के उदय से होनेवाला आत्मा का विकार भाव है । कपट करना, छल करना, प्रपंच करना, ठगना, विश्वासघात करना आदि माया के ही प्रकार हैं । माया करना अर्थात् अंदर अलग भाव एवं बाहर अलग भाव दिखाना । जैसे बगुले के मन में जलचर जीवों को मारने की हिंसक वृत्ति रहती है, परन्तु वह बाह्य रूप से एक पैर पर स्थिर खड़ा रहकर भगवान का ध्यान करता हो, वैसा दिखावा करता है । यह जलचर जीवों को ठगने की ही एक प्रकृति एवं प्रवृत्ति है । उसी तरीके से खुद अच्छा, सुखी, ज्ञानी, सदाचारी, धनवान, रूपवान, युवा न होते हुए भी 'मैं अच्छा, सुखी, ज्ञानी, सदाचारी, धनवान, रूपवान एवं युवा हूं, वैसा दिखावा करना, माया है। संक्षेप में खुद का जो स्वरूप है वैसा न दिखाना एवं जैसा नहीं है वैसा दिखाना माया है । माया

कषाय दूसरे तीनों कषायों को बढावा देता है, क्योंकि अपने में तीन तीन कषाय होते हुए भी अपने को या दूसरे को खयाल भी न आए कि इस व्यक्ति में इतने इतने कषाय हैं, वैसा आवरण खड़ा करने की शक्ति इस माया में है ।

स्वार्थ वृत्ति से यह माया रूप पाप करके व्यापारी ग्राहक को, शिकारी पशु को, मछुआरा जलचर जीवों को, राजा प्रजा को, कुगुरु श्रद्धालु भक्त को, पत्नी पति को, पुत्र पिता को, पुत्री माता को, इस प्रकार अनेक रूप से जीव एक दूसरे को ठगकर दुःखी करते हैं एवं स्वयं भी दुःखी होते हैं ।

महासुख देनेवाली धर्मक्रिया भी माया मिश्रित हो तो वह भी आनंद नहीं दे सकती । महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने 'अध्यात्मसार' नाम के ग्रंथ में इस माया को दिखाने के लिए एवं उस महादोष से जीवों को बचाने के लिए 'दंभ त्याग' नाम का एक संपूर्ण अधिकार बनाया हैं । उसके प्रथम श्लोक में ही उन्होंने बताया है कि, मुक्तिरूपी लता के लिए माया[11] अग्नि समान है, शुभ क्रियारूपी चंद्र को कलंकित करनेवाले राहु के समान है, दुर्भाग्य का कारण है एवं आध्यात्मिक सुख के लिए बेड़ी समान है ।' इसीलिए साधक को सरलता गुण का सहारा लेकर, स्वजीवन में रही हुई सूक्ष्म से सूक्ष्म माया को जानकर, उसमें से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

जब भी माया करने का मन हो तब याद रखना चाहिए कि, माया के सेवन से लक्ष्मणा साध्वीजी असंख्य भव भटकीं एवं मल्लिनाथ प्रभु की आत्मा ने पूर्व के भव में संयमजीवन में तप धर्म के लिए माया की थी, उसी कारण उनको अन्तिम भव में तीर्थंकर पद में भी स्त्रीरूप की प्राप्ति हुई । यह माया स्त्री वेद एवं तिर्यंच गति का कारण है । ऐसे विचारों से अपने आप को सरल बनाकर सर्व प्रकार के मायाचार से दूर रहना चाहिए ।

इस पद का उच्चारण करते समय दिवस या रात्रि के दौरान हुई माया को याद करके, अपने आप को टटोल कर पूछना चाहिए कि सफेद बालों को काला

11. दम्भो मुक्तिलतावह्नि - र्दम्भो राहुः क्रियाविधौ ।
दौर्भाग्यकारणं दम्भो, दम्भोऽध्यात्मसुखार्गला ।।१।। अध्यात्मसार-३-१

करने का, चेहरे के उपर श्रृंगार करने का, ब्यूटी पार्लर की सीढ़ी चढ़ने वगैरह का मन क्यों होता है ? ऐसी छोटी सी भी माया को याद करके उसकी निंदा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण करना है ।

नवमे लोभ : पाप का नौवाँ स्थान 'लोभ' है ।

लोभ कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाला आत्मा का विकार भाव है । तृष्णा, असंतोष, पदार्थ को पाने की इच्छा, मिलने के बाद रक्षा करने की या अधिक पाने की या उसमें वृद्धि करने की इच्छा, ये सब लोभरूप हैं ।

अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की एवं प्राप्त होने के बाद भी अधिक से अधिक पाने की इच्छा लोभरूप है; जैसे कि, लाख मिले तो करोड़ की एवं करोड़ मिले तो अरब की इच्छा करना, लोभ की वृत्ति है। लोभ के कारण भाई-भाई के बीच, पिता-पुत्र के बीच, देवरानी-जेठानी के बीच झगड़े होते हैं। लोभ के कारण मानव महाआरंभ से युक्त व्यवसाय करने को लालायित हो जाता है।

लोभ के स्वरूप को समझाते हुए कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्र-सूरीश्वरजी महाराज फरमाते हैं कि, लोभ[12] सब दोषों की खान है, गुणों को निगलने में राक्षस तुल्य है, संकटरूप लत्ता के मूल जैसा है एवं धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष ऐसे चारों पुरुषार्थ को साधने में बाधा करनेवाला है ।

दुनिया के जितने दोष हैं वे सब प्रायः लोभ से उत्पन्न होते हैं एवं जितने गुण हैं उन सब के मूल में लोभ का त्याग होता है ।

जिस तरह[13] हिंसा सब प्रकार के पापों में प्रधान है, सभी कर्मों में मिथ्यात्व मुख्य है, रोगों में क्षय रोग बड़ा है, उस तरह लोभ सभी अपराधों का गुरु है ।

---

12. आकरः सर्वदोषाणां, गुणग्रसनराक्षसः ।
कन्दो व्यसनवल्लीनां लोभः सर्वार्थबाधकः ।। - योगशास्त्र-४, गा. १८
त्रैलोक्यामपि ये दोषास्ते सर्वे लोभसंभवाः ।
गुणास्तथैव ये केऽपि, ते सर्वे लोभवर्जनात् ।। - योगसार ५:१८

13. हिंसेव सर्वपापानां, मिथ्यात्वमिव कर्मणाम् ।
राजयक्ष्मेव रोगाणां, लोभः सर्वागसां गुरुः ।। - योगशास्त्र-प्र. ४, आंतरश्लोक-७५१

लोभ नाम के कषाय के कारण अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करने का मन होता है, संगृहीत चीज कहीं आगे पीछे न हो उसकी सतत चिंता रहती है एवं जरूरतमंद को दान देने की इच्छा मात्र भी नहीं होती ।

यह पद बोलते समय दिन के दौरान लोभ के अधीन होकर मन, वचन, काया से जो विपरीत आचरण किया हो उसे याद करके उसकी निंदा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण करना है ।

दसमे राग : पाप का दशवाँ स्थान 'राग' है ।

स्वभाव से नाशवंत तथा मात्र काल्पनिक सुख को देनेवाली स्त्री, संपत्ति या मनचाही सामग्री के रंग मे रंगना, आसक्त होना, प्रेम करना, लगाव रखना - ये सब राग के प्रकार हैं । यह भी कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाला आत्मा का विकारभाव है । अयोग्य स्थान में प्रकट हुआ राग वाणी एवं वर्तन में विकार लाता है, मन को विह्वल करता है, उसके कारण अनुकूल वस्तु में मन भटकता रहता है । कहीं अनुकूल वस्तु न मिले तो उसका राग हृदय को जलाता है एवं वस्तु मिलने पर प्राप्त चीज़ हाथ से निकल न जाए इस तरह की चिंता से मन को व्याप्त रखता है । जिसके कारण रागांध जीव कहीं भी शांति का अनुभव नहीं करते । स्त्री आदि अयोग्य स्थानों में उत्पन्न हुआ राग तो अनेक जीवों की हिंसा करवाने के उपरांत कभी अपने प्राणों का भी भोग ले लेता है । रागी जीव मात्र हिंसा ही नहीं, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि सभी पापों का भोग बनता है ।

रागी जीव का मन धर्म में या अन्य कार्यों में भी नहीं लगता । निमित्त मिलने पर मोह के उदय से जो राग प्रकट होता है वह राग पुनः नए राग के तीव्र संस्कारों को उत्पन्न करता है। इन संस्कारों के कारण जीव संसार में भवोभव भटकता है । राग के कारण जीव चिकने कर्म बांधकर दुर्गति में दुःख का भाजन बनता है । इसलिए इस राग नाम के कषाय को उठते ही समाप्त कर देना चाहिए । इसके लिए राग के निमित्तों से सदा सावधान रहना चाहिए । अनित्य, अशरण एवं अशुचि आदि भावनाओं से मन को भावित करना चाहिए । ऐसा हो तो ही राग नाम के पाप से बच सकते हैं; बाकी इस पाप से बचना बहुत मुश्किल है ।

राग के कामराग, स्नेहराग एवं दृष्टिराग : ऐसे तीन प्रकार हैं ।

१ - कामराग : स्थूल व्यवहार से स्पर्शेन्द्रिय का सुख जिससे प्राप्त हो, वैसे सजातीय या विजातीय व्यक्ति के प्रति राग को कामराग कहते हैं । वास्तविक दृष्टि से पांचों इन्द्रियों की सामग्री के प्रति या उनको दिलानेवाले व्यक्ति के प्रति राग, कामराग है ।

२. स्नेहराग : किसी भी प्रकार के स्वार्थ या अपेक्षा के बिना मात्र खून के संबंध के कारण या ऋणानुबंध के कारण भाई, बहन, माता-पिता, पुत्र-पुत्री या मित्र आदि के प्रति जो राग होता है उसे स्नेहराग कहते हैं । जिस राग में कोई स्वार्थ या अपेक्षा रहती हो वह वास्तव में स्नेहराग नहीं कहलाता, परन्तु परिचित या अपरिचित किसी भी व्यक्ति को देखकर किसी भी अपेक्षा के बिना मन उसकी तरफ आकर्षित हो जाए या द्रवित हो जाए तो उसे स्नेहराग कहते हैं ।

३ - दृष्टिराग : कुप्रवचन में, गलत सिद्धांत में या मिथ्यामतों में आसक्ति या अपनी गलत मान्यता का आग्रह दृष्टिराग है; तदुपरांत विवेक विहीन स्व-दर्शन का राग भी कभी दृष्टि राग बनता है ।

इसके अलावा, राग प्रशस्त एवं अप्रशस्त ऐसे दो प्रकार का होता है ।

राग की परंपरा को तोड़े वैसा राग तथा दोषों का नाश करके गुणों की प्राप्ति करवाएँ वैसा राग प्रशस्त राग है । राग की परंपरा को बढ़ाए तथा दोष एवं कषाय की वृद्धि करे वैसा राग अप्रशस्त राग है । अनंतगुण के धारक अरिहंत परमात्मा के उपर या गुणवान गुरु भगवंत के उपर या गुणसंपन्न कल्याण मित्र तुल्य किसी के भी उपर गुण प्राप्ति के उपायरूप किया हुआ, विवेकपूर्ण राग गुणराग होने से प्रशस्त[14] राग कहलाता है, क्योंकि यह राग संसार के राग को कम करता है। राग होने पर भी अप्रशस्त राग को तोड़ने के लिए प्रशस्त राग साधनरूप है । इसलिए महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं कि,

"राग न करजो कोइ नर किणश्युं रे,
नवि रहेवाय तो करज्यो मुनिश्युं रे" - राग पापस्थानक सज्झाय... (९)

14. राग की प्रशस्ता/अप्रशस्ता संबंधी विशेष विचारणा के लिए सूत्र संवेदना-४ 'वंदित्तु' की गाथा ४ देखें ।

राग किए बिना न रहा जाए तो मुनि का राग करें, जो राग कर्ममुक्ति का, गुणप्राप्ति का कारण बने; परन्तु कर्मबंध का या दोषवृद्धि का कारण न बने। अमुक (प्रारंभिक) स्तर तक प्रशस्त राग उपादेय है, तो भी मोक्ष की प्राप्ति में तो यह राग भी विघ्नकर्ता ही बनता है । जैसे गौतमस्वामी का भगवान महावीरदेव के प्रति राग उनके केवलज्ञान में बाधक बना था । इसलिए साधना की विशिष्ट कक्षा में पहुँचने के बाद प्रशस्त राग को भी छोड़ देना चाहिए ।

संक्षेप में जहाँ तक अप्रशस्त राग है, वहाँ तक उसे तोड़ने के लिए प्रशस्त राग का उपयोग करना है एवं जब अप्रशस्त राग छूट जाए तब प्रशस्त राग को भी छोड़ ही देना है । विजातीय के प्रति मोहादि से हुआ राग या सामग्री आदि का राग अप्रशस्त राग है, क्योंकि उससे दोष की वृद्धि होती है। इसलिए विजातीय आदि रागी पात्रों या इन्द्रियों के अनुकूल विषयों से खूब सावधान रहना चाहिए, तो ही राग नामक दशवें पापस्थानक से बच सकते हैं।

इस पद का उच्चारण करते समय राग के तीव्र संस्कारों के कारण दिन में कहाँ और कैसे परिणामों में मैं फँस गया, उसका विचार करके, "प्रभु ! इस राग में से मैं कब छूटूँगा एवं वीतराग भाव को कब पाऊंगा ?" ऐसी संवेदनापूर्वक रागकृत भावों की निंदा, गर्हा करके प्रतिक्रमण करना चाहिए।

अगियार में द्वेष : पाप का ग्यारहवाँ स्थान 'द्वेष' है ।

घृणित या नापसंद वस्तु - व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति घृणा, अरुचि, अभाव, दुर्भाव या तिरस्कार का भाव, द्वेष है । यह द्वेष का भाव राग से उत्पन्न होता है । जिस वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति राग होता है, उसमें विघ्न करनेवाले, रुकावट पैदा करनेवाले व्यक्ति या वस्तु के प्रति द्वेष होता है । ऐसी वस्तु या व्यक्ति सामने आए तो उसके प्रति घृणा उत्पन्न होती है, उसके सामने देखने का मन नहीं होता, उससे दूर भागने की भावना होती है, उसके साथ कभी कार्य करना पड़े तो बैचेनी होती है, इससे कैसे छूट सकु ऐसा भाव रहता है । ये सब मलिन भाव द्वेषरूप पाप के कारण होते हैं ।

इस मानसिक परिणाम के कारण जीव ऐसा कर्म बांधता हैं कि, जिससे दूर होने का मन होता है वही वस्तु सामने आकर खड़ी रहती है और बाद में फिर से उसके प्रति घृणा आदि होती है, पुनः वैसा ही कर्म बंध होता हैं, ऐसा विषचक्र चलता ही रहता है । इसलिए भवभीरू आत्मा को ऐसे द्वेष भाव का एवं द्वेष के कारणरूप राग भाव का त्याग करने के बारे में हमेशा सोचना चाहिए कि, "जिसके प्रति राग - द्वेष है, वह जड द्रव्य हो या जीव द्रव्य हो, दोनों मुझ से भिन्न हैं, मुझ से अलग वे मेरा अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं कर सकते । उनमें मुझे सुख या दुःख होने की शक्ति ही नहीं है । मैं ही मन से द्वेष करके दुःखी होता हूँ । इसके बदले मन को समभाव में रखने का प्रयत्न करूं तो मेरा वास्तविक आत्महित हो" - राग से ही द्वेष का जन्म होता है, इसलिए प्रथम राग से ही बचना है । राग के जाने के बाद द्वेष खड़ा ही नहीं रह सकता । वह खुदबखुद चला जाता है । ऐसा सोचकर राग द्वेष से अलग होने का यत्न होगा, तभी इस पाप से बच सकते हैं ।

इस पद का उच्चारण करते हुए दिन के दौरान किसी के प्रति अभाव या घृणा हुई हो, किसी के प्रति आवेश या तिरस्कार प्रगट हुआ हो तो उन सब पापों को याद करके, "मैंने यह बहुत गलत किया है ऐसे राग-द्वेष के द्वन्द्वों में फंसा रहूँगा तो मेरे भव का अंत कब होगा ? समता का आस्वाद कब करूंगा ? इसी भव में समता को पाना हो तो विचार करके ऐसे भावों से पर होना ही पड़ेगा ।" ऐसे अंतःकरणपूर्वक इन पापों की आलोचना, निंदा एवं गर्हा करके उनका 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना है ।

बारमें कलह : पाप का बारहवाँ स्थान है 'कलह' ।

क्लेश, कलह, कंकास, कही सुनी करनी, झगड़ा-टंटा करना, आदि विविध प्रकार के अयोग्य वाचिक व्यवहार कलह है । कलह प्रायः द्वेष या क्रोध के परिणाम से अथवा राग या अनुकूलता में मिली निष्फलता से पैदा होता है । द्वेष होने के बाद सहनशीलता न होने के कारण पिता-पुत्र, सास-बहू, ननद-

भौजाई, देवरानी-जेठानी वगैरह के बीच भी कलह, मतभेद एवं उससे मनभेद हो जाता है ।

खाने-पीने में, रहने-सहने में व्यापार या व्यवहार में जब एक दूसरे की आपस में नहीं बनती, तब परस्पर कलह होता है एवं इस कलह के फल स्वरूप क्रोध क्लेश पैदा होता है इसका परिणाम यह आता है, कि ऊँची आवाज में बोलचाल एवं मारामारी तक बात पहुँच जाती है । कभी कभी तो मारामारी से बढ़कर क्रोधांध व्यक्ति प्रतिपक्ष की हत्या करने से भी नहीं हिचकिचाता । प्रज्ञापना सूत्र में तो **"कलहो राटि :"** ऐसा कहकर बताया गया है, कि शिकायत करते करते जोर से बोलना भी कलह-क्लेश ही है । धैर्य गँवाकर आगे पीछे का विचार किए बिना ही जोरशोर[15] से बोलना, चिल्लाते हुए सभ्य-असभ्य शब्दों द्वारा मन चाहे तरीके से बोला जाये तो उसे कलह कहते हैं । किसी के साथ कलह करने से वैर की परंपरा चालू होती है, कुल को कलंक लगता है एवं धर्म की निंदा होती है । इसलिए, सज्जन पुरुषों को तो सदैव कलह-क्लेश एवं झगड़े से दूर ही रहना चाहिए ।

इस पद का उच्चारण करते हुए दिवस या रात्रि में स्व-पर की चित्त वृत्ति को मलिन करनेवाले कलह-कंकास या झगड़े हुए हों तो उनको याद करके, पुनः वे पाप न हों ऐसा दृढ़ संकल्प करके उसका मिच्छा मि दुक्कडं देना है ।

तेरमें अभ्याख्यान : पाप का तेरहवाँ स्थान 'अभ्याख्यान' है ।

अविद्यमान दोष का आरोपण करना अभ्याख्यान[16] है । किसी पर गलत आरोप लगाना, कलंक लगाना, सामनेवाले व्यक्ति में किसी भी प्रकार की

---

15. महता शब्देनान्योन्यम् असमम् असम्भाषणम् कलहः । - भगवती-५७२
भगवतीजी में कहा गया है, कि ऊँची आवाज में परस्पर अयोग्य बोलना कलह है ।

16. असद्दोषारोपणम् - ठाणांग में कहा है, कि न हो वैसा (असद्भूत) दोष का आरोपण, वह अभ्याख्यान है । आभिमुख्येन आख्यानं दोषाविष्करणम् - अभ्याख्यानम् ।

खराबी न हो तो भी उसकी बढ़ती हुई कीर्ति, यश, ऐश्वर्य, मान या स्थानादि के प्रति पैदा हुए द्वेष या ईर्ष्या के कारण उनमें न हो वैसे दोषों को बताना, उनको कलंकित करना (बदनाम करना) अभ्याख्यान है। जैसे कि परम पवित्र महासती सीताजी की बढ़ती हुई कीर्ति एवं रामचन्द्रजी की ओर से उनको मिलनेवाले मान को सहन न कर सकने के कारण रामचन्द्रजी की अन्य रानियों ने "सीता के मन में अभी भी रावण बैठा है" ऐसी अनुचित बात फैलाकर, सीता के सतीत्व को कलंकित करने का निंदनीय प्रयास किया, यह अभ्याख्यान का दृष्टांत है ।

अंदर रहा हुआ मान का भाव एवं पुण्य न होते हुए भी बड़ा बनने की भावना, बहुत बार जीव को इस पाप का भागी बनाता है, परन्तु किसी को भी हरा देने की वृत्तिरूप इस पाप का परिणाम अत्यंत भयंकर है । उससे भवांतर में भी सज्जनों का संयोग प्राप्त नहीं होता है एवं निष्कारण कलंकित होना पड़ता है जैसे कि महासती अंजना ने पूर्वभव में शौक्य रानी लक्ष्मीवती का उत्कर्ष सहन न होने के कारण उसे नीचा दिखाने के लिए अनेक प्रयत्न किए । अंत में परमात्मा की मूर्ति छिपाई । उसके कारण ऐसा कर्म बंध हुआ कि बाइस वर्ष तक गुणवान पति का वियोग एवं अप्रीति सहन करनी पडी । ऐसे पाप से बचने के लिए मन को प्रमोद भाव से भर देना चाहिए । किसी का गुण देखकर उसके प्रति अत्यंत प्रीति का भाव प्रकट करना चाहिए, तभी इस पाप से बच सकते हैं ।

इस पद का उच्चारण करते समय दिवस के दौरान या अपने जीवन काल के दौरान कभी भी ऐसा पाप हुआ हो तो उसको याद करके, उसके प्रति अत्यंत जुगुप्सा भाव प्रगट करके, *"मुझ से ऐसा भयंकर पाप हो गया है ! निश्चय ही मैं पापी हूँ, अधम हूँ, अत्यन्त दुष्ट हूँ, जिससे ऐसे गुणवान व्यक्ति के प्रति भी मुझे ईर्ष्या होती है"* ऐसी आत्म-निंदा द्वारा अपनी आत्मा में पड़े हुए पाप के संस्कारों को निर्मूल करने के प्रयत्नपूर्वक भावपूर्ण हृदय से मिच्छा मि दुक्कडं देना है ।

चौदमें पैशुन्य : पाप का चौदहवाँ स्थान है "पैशुन्य" ।

किसी के सच्चे झूठे अनेक दोषों को पीठ पीछे बोलना "पैशुन्य"[17] कहलाता है । आगे पीछे का विचार किए बिना, किसी की कमजोर बात को जानकर, उसे दूसरे, तीसरे व्यक्ति तक पहुँचाना, यहाँ का वहाँ एवं वहाँ का यहाँ कहना, जिसे व्यवहार में चुगली कहते हैं, वही पैशुन्य नाम का पाप है ।

ऐसी आदत के कारण बहुतों के जीवन में आग लग जाती है, बहुतों का दिल दुःखता है, भाई-भाई के बीच, पति-पत्नी के बीच, पिता-पुत्र के बीच, वैर की शृंखला खड़ी हो जाती है, संबंधों में दरार पड़ती है । चुगली करने से चुगली करनेवाले के हाथ में तो कुछ नहीं आता, परन्तु सामनेवाले व्यक्ति का तो निश्चय से अहित होता है एवं खुद उस का भी अहित होता है ।

महापुण्य के उदय से मिली जीभ का उपयोग ऐसे हीन कार्यों में करने से भवांतर में जीभ नहीं मिलती । इसके अलावा, ऐसी आदत से बहुत से कर्मों का बंध होता है एवं बहुतों के साथ वैमनस्य पैदा होता है । इसलिए स्व-पर को हानिकारक इस निंदा-चुगली के पाप से तो साधक को बचना ही चाहिए।

इस पद का उच्चारण करते समय दिवस के दौरान गलत आदत के कारण जाने-अनजाने किसी की निंदा हो गई हो, किसी की कमजोर बात किसी के आगे कही गई हो तो उस पाप को याद करके, "ऐसा घोर पाप मुझ से हो गया है, मेरी ऐसी बुरी आदत कब दूर होगी ?" ऐसे तिरस्कार के भाव से इन पापों की निंदा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण करके "मिच्छा मि दुक्कडं" देना है ।

पंदरमें रति-अरति : पाप का पन्द्रहवाँ स्थान है 'रति-अरति' ।

रति-अरति ये नोकषाय मोहनीय कर्म के उदय से हुआ आत्मा का विकार भाव है । ईष्ट वस्तु या व्यक्ति के मिलने पर आनंद की अनुभूति होना रति है, एवं अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति आंखो के सामने आने पर घृणा होना, दुःख

---

17. पैशुन्यं - पिशुनकर्म प्रच्छन्नं सदसद्दोषविभावनम् । किसी के सच्चे या झूठे दोष को उसकी पीठ पीछे कहना पैशुन्य है ।

की अनुभूति होना अरति है । जहाँ राग होता है वहाँ रति होती है एवं जहाँ द्वेष होता है वहाँ अरति होती है; क्योंकि राग कारण है एवं रति कार्य है तथा द्वेष कारण है एवं अरति कार्य है । ये दोनों राग एवं रति तथा द्वेष एवं अरति, कुछ समान होते हुए कुछ अंश से अलग भी हैं । एक में (राग में) आसक्ति का परिणाम है एवं दूसरे में (रति में) हर्ष का परिणाम है; एक में (द्वेष में) तिरस्कार का भाव है तो दूसरे में (अरति में) प्रतिकूलता का भाव है । निमित्त सामने हो या न हो परन्तु राग एवं द्वेष की संवेदनाएं बैठी ही रहती हैं, पर रति-अरति के परिणाम निमित्त मिलते प्रकट होते हैं, इसलिए यहाँ उनका अलग से उल्लेख किया गया है ।

ऐसा होते हुए राग, द्वेष की उपस्थिति में प्रायः रति-अरति के भाव मिले हुए होते हैं । इसलिए, जैसे राग युक्त या द्वेष युक्त व्यक्ति समभाव में स्थिर नहीं रह सकता, वैसे रति-अरति के परिणामवाला व्यक्ति भी समभाव या आत्म स्वभाव में स्थिर होकर आत्मिक सुख प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिए आत्मिक सुख के अभिलाषी आत्मा को रति-अरति का भी त्याग करना चाहिए ।

परमात्मा के वचन द्वारा रागादि मलिन भावों को दुःखरूप जानते हुए भी पूर्व के कुसंस्कारों के कारण व्यक्ति का मन प्रायः जीवन भर राग-द्वेष, रति-अरति के भाव से मुक्त नहीं हो सकता । उससे मुक्त होने एवं कुसंस्कारों को निर्बल करने के लिए सतत जागृति रखनी जरूरी है । रति एवं अरति के परिणाम कहाँ रहे हैं, उसको बहुत सूक्ष्म बुद्धि से जानना चाहिए, क्योंकि सतत क्रियाशील इन परिणामों का ज्यादातर तो ध्यान ही नहीं रहता, जैसे कि सोने के लिए मुलायम गद्दी एवं अनुकूल वातावरण मिला तो रति एवं जरा खुरदरी चद्दर या गर्मी आदि की प्रतिकूलता मिली हो, तो तुरंत अरति होती है। इस तरह अनेक प्रकार से अनेक स्थान पर इन राग-द्वेष एवं रति-अरति के भाव होते ही रहते हैं । परन्तु तब हमें खयाल ही नहीं आता कि, ये मुझे रति एवं अरति के भाव हुए हैं और वे मेरी आत्मा के लिए हानिकारक हैं ।

इस पद का उच्चारण करते समय सतत सक्रिय रति एवं अरति के भावों को स्मृति-पट पर स्थापित करके सहज उठते इन भावों के प्रति सावधान बनना है । ये भाव आत्मा के लिए कितने खतरनाक हैं, आत्मा के सहज सुख के लिए कितने बाधक हैं एवं वे दुर्गति की परंपरा का किस तरह सृजन करते हैं, उसका विचार करके, रति-अरति की निंदा करके इन पापों से बचने के लिए मिच्छा मि दुक्कडं देना है ।

सोलमे पर-परिवाद : पाप का सोलहवाँ स्थान है : 'दूसरों का परिवाद'.[18]

पर अर्थात् पराया एवं परिवाद अर्थात् कथन; दूसरों की निंदा करना, उसे पर-परिवाद करना कहते हैं । अनादि अज्ञान के कारण जीवों को अपने से अधिक दूसरों को जानने की, दूसरों की कमजोर बातें करने की बुरी आदत होती है। इसलिए वह दूसरों की चर्चा करने का अवसर खोजता ही रहता है । इसके लिए वह स्नेही-स्वजनों को इकट्ठा करता है, मित्रों से मिलता है एवं घंटों तक दूसरों की बातें करने में समय फजूल बिता देता है । वे जानते नहीं है कि, दूसरे की निंदा करने से खुद को कितना नुकसान होता है। व्यवहार में भी कहते हैं कि, *'करोगे निंदा पर की, जाओगे नारकी'* पर की निंदा करनेवाला नरक में जाने तक के कर्म का बंध करता है, क्योंकि यह परनिंदा का पाप अर्थदंड नहीं, अनर्थदंडरूप है । तदुपरांत ऐसी पर की चर्चा करनेवाले जीव कितनों को अप्रिय बनते हैं एवं उसका विरोध भी बहुत होता है । पर की निंदा करनेवाला तो देव-गुरु या गुणवान आत्मा के प्रति भी कब गलत बोले वह नहीं कह सकते । अवसर आने पर तो वह किसी को नहीं छोड़ता । पर की चर्चा में लगे रहने का रस खूब ही भयंकर है । दुःख की बात तो यह है कि पर की चर्चा या निंदा करना लोगों को पापरूप भी नहीं लगता, समय बीताने का एवं मनोरंजन का एक साधन लगता है । इसलिए मुमुक्षु साधक को तो सर्वप्रथम इस पाप को पापरूप मानना चाहिए ।

---

18. परेषां परिवादः परपरिवादः विकत्थनम् इत्यर्थः ।

वास्तव में यह पाप खूब हानिकारक है । उससे कुसंस्कार पुष्ट होते हैं, प्रगट हुए आत्मगुणों का नाश होता है, मनुष्यजीवन के कीमती क्षण बरबाद हो जाते हैं एवं कितनों के ही जीवन में विघ्न खड़े हो जाते हैं । इसलिए इन पापकर्मों का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

इस पद का उच्चारण करते समय दिनभर में हुई पर की निंदा को याद करके "ऐसा कार्य मुझ से कैसे हुआ ? उससे मुझे क्या फायदा हुआ ? बेकार में कैसा कर्म बांधा ?" इस प्रकार आत्म निंदा एवं गर्हा द्वारा इन पापों का प्रतिक्रमण करके 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना चाहिए ।

सत्तरमें माया-मृषावाद : पाप का सत्तरहवाँ स्थान है : 'मायापूर्वक झूठ बोलना' ।

'माया मृषावाद' अर्थात् किसी को ठगने के लिए आयोजनपूर्वक झूठ बोलना । देखा जाए तो झूठ बोलने के कारण बहुत हैं, परन्तु उनमें माया करके, जाल बिछाकर, किसी को ठगने के लिए जो झूठ बोला जाता है, उसे 'माया मृषावाद' कहते हैं । दुनिया में इसे सफेद झूठ (White Lies - Lame excuse) कहते हैं । इसमें दूसरा (मृषावाद का) और आठवाँ (माया का) पाप एक साथ होता है । सामान्यतः सहज भाव से, अनायास असत्य बोलनेवाले से असत्य बोलकर किसी को ठगने के लिए मायापूर्वक (पूर्व आयोजनपूर्वक) असत्य बोलनेवाला बहुत बड़ा गुनहगार माना जाता है, क्योंकि वह अन्यों का विश्वासघात करता है । आर्यदेश में विश्वासघात का पाप बड़ा पाप गिना जाता है । मात्र अपने स्वार्थ के लिए ऐसा झूठ बोलनेवाले का मानसिक परिणाम भी बहुत किलष्ट होता है । इससे उसका कर्मबंध भी बहुत बलवान होता है । इसलिए, ऐसे मायापूर्ण के असत्य भाषण का त्याग करना अति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है ।

इस पद का उच्चारण करते समय दिवस के दौरान अपने स्वार्थ के लिए या गलत आदत के कारण कहीं भी मायापूर्वक झूठ बोला हो तो उसे याद करके

ऐसा पुनः न हो ऐसे परिणामपूर्वक उसकी निंदा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण करना है। पुनः ऐसी मलिन वृत्ति मन में उठे ही नहीं उस तरह 'मिच्छामि दुक्कडं' देना है ।

अढारमें मिथ्यात्व शल्य : पाप का अठारवाँ स्थान है "मिथ्यात्वशल्य।"

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय के कारण जीव की बुद्धि में जो विपर्यास पैदा होता है, एक प्रकार का जो भ्रम पैदा होता है, तत्त्वभूत पदार्थों की जो अश्रद्धा, विपरीत श्रद्धा या मिथ्या मान्यताएँ होती हैं, उन्हें मिथ्यात्व कहते हैं । मिथ्यात्व का यह परिणाम जीव को खयाल भी न आए इस तरीके से शल्य = काँटे की तरह पीड़ा देता है, इसलिए इसे मिथ्यात्व शल्य कहते हैं ।

मिथ्यात्व के कारण उत्पन्न हुए विपर्यास के कारण जीव; आत्मा, पुण्य, पाप, परलोक आदि का स्वीकार नहीं कर सकता अथवा आत्मादि पदार्थों को देख नहीं सकता, इसलिए वे हैं हीं नहीं ऐसा मानता है ।

जन्म से मिला हुआ शरीर आत्मा से अत्यंत अलग है, तो भी मिथ्यात्व के कारण इस भव तक साथ रहनेवाला शरीर ही मैं (आत्मा) हूँ, ऐसा जीव मानता है । इससे जीव शरीर की रक्षा करने के लिए उसे ठीक रखने, सुडौल बताने एवं सजाने के लिए हिंसादि अनेक पाप करता है। अपनी याने स्व-आत्मा की उपेक्षा करता है, आत्माके सुख दुःख का विचार भी नहीं करता । कर्म से आवृत हुई उसकी ज्ञानादि गुणसंपत्ति को प्रकट करने का प्रयत्न भी नहीं करता एवं आत्मा को सुख देनेवाले क्षमादि गुणों को प्राप्त करने की मेहनत भी नहीं करता ।

जीव को जिस किसी भी सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, वह अपने अपने कर्मानुसार प्राप्त होती है, तो भी मिथ्यात्व के उदय के कारण जीव सुख दुःख के कारणरूप स्वकर्म का विचार छोड़, बाह्य निमित्तों को सुख दुःख का कारण मानकर, उसके प्रति राग-द्वेष करता है ।

इस जगत् के किसी भी भौतिक पदार्थ में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह जीव को सुख या दुःख दे सके । जीव जिसमें सुख की कल्पना करता है, उसमें उसको सुख का भ्रामिक अनुभव होता है एवं जिसमें दुःख की कल्पना करता है, उसमें दुःख का भ्रम होता है । वास्तव में तो सुख एवं दुःख सामग्री से हैं ही नहीं ।

यह तो जीव की खुद की कल्पना से है । ऐसा होते हुए भी मिथ्यात्व के उदय के कारण जीव काल्पनिक, भौतिक सुख को प्राप्त करने एवं काल्पनिक दुःख को टालने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों को करते हुए भी घबराता नहीं । खुद के ऐसे आचरण से भविष्य में कैसे विपरीत परिणाम आएंगे, उसका वह विचार भी नहीं करता ।

इसके अलावा, मिथ्यात्व नाम के पाप के कारण आत्मा का परिचय करनेवाले, सच्चे सुख की राह बतानेवाले सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म को भी जीव नहीं स्वीकारता एवं भौतिक सुख की राह बतानेवाले कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म की तरफ वह दौड़ता है । कभी पुण्योदय से सुगुरु आदि की प्राप्ति हो जाए तब भी उनसे आत्मिक सुख को पाने की इच्छा न रखते हुए, वह सद्‌गुरु से भी भौतिक सुख की ही अपेक्षा रखता है। कभी धर्म करता है तो भी मात्र इस लोक-परलोक के काल्पनिक सुख के लिए ही करता है, आत्मा के सुख के लिए या आत्मा के आनंद के लिए नहीं करता ।

जैसे शल्यवाले स्थान में बनाई हुई सुन्दर ईमारत भी जीव को सुख नहीं दे सकती, वैसे ही अंदर में रहा हुआ मिथ्यात्व नाम का शल्य जीव को सच्चे सुख का आस्वाद करने नहीं देता । आत्मा में पड़ा हुआ यह मिथ्यात्व का कांटा जब तक न निकले, तब तक जीव को कोई भी पाप वस्तुतः पापरूप नहीं लगता, पापमय संसार असार नहीं लगता एवं कर्म के कारण भवभ्रमण की अनेक विडंबनाएँ भुगतनी पड़ेंगी, ऐसा भी उसे नहीं लगता । परिणाम स्वरूप वह कर्म बंध के प्रति सावधान नहीं रहता एवं हिंसा तथा अन्य पापों से रुकता नहीं, आत्मा के लिए उपकारक सुदेव की सुदेवरूप से भक्ति नहीं करता, सुगुरु को खोजकर उनके पास से सच्चे सुख की राह समझता नहीं, धर्म का उपयोग भी संसार से मुक्त होकर मोक्ष पाने के लिए नहीं करता । इसलिए शास्त्रकारों ने सब से बड़ा पाप-'मिथ्यात्व' माना है । वह सब पापों का मूल है, सर्व दुःखों का कारण है एवं संसार के सृजन में सब से बड़ा हिस्सा इसका है । सबसे अधिक स्थितिवाला कर्म बंधवानेवाला भी यह मिथ्यात्व ही है । कर्म के प्रवाह को बहते रखने का काम यह मिथ्यात्व ही करता है । इस कारण से सद्‌गुरु के शरण को

स्वीकार करके, शास्त्रों का अध्ययन करके सर्व प्रथम इस मिथ्यात्व को जानने एवं निर्मूल करने का प्रयत्न करना चाहिए एवं उसको दूर करना चाहिए ।

इस पद का उच्चारण करते समय अनादिकाल से आत्मा में घर बनाए हुए इस शल्य को खूब ही स्पष्ट तरीके से जानकर, दिवस के दौरान जीवन व्यवहार में सूक्ष्म या स्थूल प्रकार से यह पाप कहाँ प्रवर्त रहा है, उसको जानकर, उस पाप के प्रति तिरस्कार भाव प्रगट कर उसकी निंदा, गर्हा करनी है एवं प्रतिक्रमण का परिणाम पैदा करके पाप करने की वृत्ति से मुक्त होकर आत्मा को निर्मल बनाना है ।

अे अढार पाप स्थानकमांहि माहरे जीवे जे कोई पाप सेव्युं होय, सेवराव्युं होय, सेवतां प्रत्ये अनुमोद्युं होय ते सविहु मन, वचन, कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ।

उपर नामोल्लेख द्वारा जिन पापों का वर्णन किया गया है, उन अठारह में किसी भी पाप का मैंने सेवन किया हो, किसी के पास करवाया हो या करते हुए का अनुमोदन किया हो तो उन सब पाप संबंधी मन, वचन, काया से 'मिच्छा मि दुक्कडं' देता हूँ अर्थात् ये पापरूप मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, वैसा मन से सोचता हूँ, वाणी से बोलता हूँ एवं काया के विनम्र व्यवहार से स्वीकार करता हूँ ।[19]

---

19. इस सूत्र का आधार स्थान स्थानांग सूत्र के पहले स्थान का ४८वाँ तथा ४९वाँ सूत्र है ।
प्रवचनसारोद्धार में २३७वे द्वार में नीचे की गाथाएं दी गई हैं

सव्वं पाणाइवायं[१], अलियमदत्तं[२-३] च मेहुणं[४] सव्वं ।
सव्वं परिग्गहं[५] तह, राईभत्तं[६] च वोसरिमो ।।५१।।
सव्वं कोहं[७] माणं[८], मायं[९] लोहं[१०] च राग[११] दोसे[१२] य ।
कलहं[१३] अब्भक्खाणं[१४] पेसुन्नं[१५] पर-परीवायं[१६] ।।५२।।
मायामोसं[१७] मिच्छादंसण-सल्लं[१८] तहेव वोसरिमो ।
अंतिमऊसासंमि देहं पि जिणाइपच्चक्खं।।५३।।

प्रवचनसारोद्धार की इस गाथा में 'रात्रिभोजन' का नाम है एवं 'रति-अरति' का नाम नहीं है । उसके संबंध में उसकी वृत्ति में बताया है कि

स्थानाङ्गो च रात्रिभोजनं पापस्थानमध्ये न पठितं, किन्तु परपरिवादाग्रतोऽरतिरतिः ।।

स्थानाङ्ग सूत्र में पाप स्थान में 'रात्रिभोजन' का पाठ नहीं दिखता, परन्तु 'परपरिवाद' के बाद में 'अरति-रति' का पाठ मिलता है ।

इस सूत्र का उच्चारण करते हुए सोचना चाहिए

"इन अठारह प्रकार के पापों में से हिंसादि अनेक पाप अपने सुख के लिए, सुविधा के लिए एवं शौक के लिए मैंने स्वयं किए हैं । करते समय पाप का भय भी नहीं रखा या उसके फल का विचार भी नहीं किया एवं कई पाप राजा, स्वजन एवं मित्रों के साथ भी किए हैं । तब भी इससे मुझे क्या फायदा होगा, उसका विचार भी नहीं किया एवं मनचाहे दृश्य देखते या मनचाही बातें-संगीत सुनते समय उसकी अनुमोदना भी की है और इस प्रकार अनंत कर्म बांधे हैं ।

भगवंत ! ये सब मेरे हृदय की कठोरता का परिणाम है । मैं उसकी माफी चाहता हूँ ।"

पुण्यात्माओ !

सिर्फ एक हजार रुपया एक ही बार भर कर आप जीवनभर के लिए आपके और आपके परिवार के आत्मा का बीमा करवा सकते हैं । यह बीमा कंपनी है - 'सन्मार्ग' पाक्षिक । हाँ ! हर पन्द्रह दिन में एक बार वह आपके घर आ कर आपको मिलता है और आपके आत्महित की चिन्ता करता है ।

पिछले ग्यारह साल जितने कम समय में जैन जगत में उत्कृष्ट ख्याति-प्रतिष्ठा प्राप्त किए **'सन्मार्ग'** पाक्षिक के बारे में कुछ भी कहना उचित नहीं लगता ।

यह सन्मार्ग में जगप्रतिष्ठित व्याख्यानवाचस्पति पू. आ. श्री विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा के, हर एक आत्मा को जागृत करनेवाले प्रवचन तो आते ही है और अधिकांश में हम अभी जिनके प्रवचनों को सुनने में एकाग्र बन जाते हैं, प्रभुवाणी में ओतप्रोत हो जाते हैं, जिन्हें सुनने का बारबार मन होता है, वो प्रवचनप्रभावक पू. आ. श्री विजय **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराज के जिनाज्ञानिष्ठ प्रवचनों का हूबहू अवतरण उसमें नियमित रूप से प्रकाशित होता है ।

इसके अलावा - शंका-समाधान, प्र नोत्तरी, शासन-समाचार, आगम के अर्क देते लोक और सांप्रतकालीन प्रवाहों के बारे में शास्त्रीय मार्गदर्शन परोसा जाता है । सन्मार्ग के विशिष्ट रंगीन विशेषांकों ने अपनी खुद की उत्कृष्ट पहचान स्थापित की है ।

हर पन्द्रह दिन A/4 साइझ के १६ पन्ने, हर साल करीब ३०० पेज का वाचन, विशिष्ट विशेषांक, सुपर व्हाईट पेपर पर आकर्षक प्रिन्टींग में घर बैठे यह मिलता है । फिर भी आजीवन सदस्यता सिर्फ रु. १०००/-

सन्मार्ग जीवनभर घर आकर आपका आत्मकल्याण करेगा ।

आज ही अपना सभ्यपद प्राप्त करें ।

औषधि के ज्ञानमात्र से रोग का नाश नहीं होता । किन्तु औषधि का सेवन भी आवश्यक होता है । वैसे ही ज्ञानमात्र से परिणति नहीं बदलती किन्तु गणधर भगवंतोने बनाए हुए सूत्र के माध्यम से ज्ञानानुसार होनेवाली क्रिया ही मोक्ष के अनुकुल परिणति बनाएँ रखने का सचोट उपाय बन जाता है । वे सूत्र शब्दो में होते है और शब्द अक्षरो के बने होते है । अक्षरो में अनंत शक्ति समाई हुई है पर हमें उसे जगाना पड़ता है । और उसे जगाने के लिए हमें सूत्र में प्राणों का सिंचन करना पड़ता है । यह प्राण फूंकने की क्रिया याने सूत्र का संवेदन करना पड़ता है तब सूत्र सजीवन बन जाता है । फिर उसमें से अनर्गल शक्ति निकलती है जो हमारे में मौजुद अनंत कर्मो का क्षय करने के लिए एक यहा के समान बनी रहती है ।

अनंत गम पर्याय से युक्त इन सूत्रों के अर्थ का संकलन करना याने एक फुलदानी में फुलों को सजा के बगीचे का परिचय देने जैसी बात है । इसलिए ही सूत्र के सारे अर्थों को समझाने का भगीरथ कार्य तो पूर्व के महाबुद्धिमान अनुभवी महाशय ही कर सकते है । तो भी स्वपरिणिति का निर्मल बनाने के आशय से शुरु किए इस लिखान में आज के सामान्य बौद्ध जीव क्रिया करते करते याद कर सके उतना अर्थ संकलित है ।

सूत्रार्थ विषयक लिखे हुए इस पुस्तक को काहनी के किताब की तरह नहीं पढ़ना है, या उसे पढ़ाई का माध्यम भी नहीं बनाना है परंतु परिणति का पलटने के प्रयास के कठिन मार्ग का एक दीया है ।

Sanmarg - 079-25352072